Bhartiya-Jyotish

विषय-सूची

प्रथमाध्याय

द्वितीयाध्याय

९

तृतीयाध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय



संकेत विवरण

ऋक्.	ऋग्वेद संहिता
त्रि. सा. गा.	त्रिलोकसार गाथा
बृ. उ.	बृहदारण्यकोपनिषद्
तै. सं.	तैत्तिरीय संहिता
प्र. व्या.	प्रश्नव्याकरणाङ्ग
ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
शत. ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
ठा. अ. सू.	ठाणाङ्ग अध्याय सूत्र
स. स. सू.	समवायाङ्ग समवाय सूत्र
अ. सं.	अथर्ववेद संहिता
स.	समवायाङ्ग
ऋ. ज्यो.	ऋक्ज्योतिष
अ. ज्यो.	अथर्व ज्योतिष
सू. प्र.	सूर्य प्रज्ञप्ति
चं. प्र.	चन्द्र प्रज्ञप्ति
ज्यो. क.	ज्योतिषकरण्डक
म. आ. प. अ.	महाभारत का आदि पर्व, अध्याय
म. भा. व. प. अ.	महाभारत का वन पर्व, अध्याय
श. प. अ.	शतपथ ब्राह्मण, अध्याय
सू. सि.	सूर्यसिद्धान्त
आ. सू.	आचाराङ्ग सूत्र
पौ. सि.	पौलिश सिद्धान्त
तै. प्रा.	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै. आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
छा. उ.	छान्दोग्योपनिषद्
छा. ब्रा.	छान्दोग्य ब्राह्मण
ऋ. भू.	ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका
ऋ. इ.	ऋग्वैदिक इण्डिया
ए. रि.	एशियाटिक रिसर्चेज़
ओ. टे.	ओरियण्टल संस्कृत टेक्स्ट
ग्रे. इं	ग्रेटर इण्डिया
नारा. उ. अ.	नारायण उपनिषद् अनुच्छेद



प्रथमाध्याय

आकाश की ओर दृष्टि डालते ही मानव-मस्तिष्क में उत्कण्ठा उत्पन्न होती है कि ये ग्रह-नक्षत्र क्या वस्तु हैं ? तारे क्यों टूटकर गिरते हैं ? पुच्छल तारे क्या हैं और ये कुछ दिनों में क्यों विलीन हो जाते हैं ? सूर्य प्रतिदिन पूर्व दिशा में ही क्यों उदित होता है ? ऋतुएँ क्रमानुसार क्यों आती हैं ? आदि ।

मानव-स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह जानना चाहता है—क्यों ? कैसे ? क्या हो रहा है ? और क्या होगा ? यह केवल प्रत्यक्ष बातों को ही जानकर सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि जिन बातों से प्रत्यक्ष लाभ होने की सम्भावना नहीं है, उनको जानने के लिए भी उत्सुक रहता है । जिस बात के जानने की मानव को उत्कट इच्छा रहती है, उसके अवगत हो जाने पर उसे जो आनन्द मिलता है, जो तृप्ति होती है उससे वह निहाल हो जाता है ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि मानव की उपर्युक्त जिज्ञासा ने ही उसे ज्योतिषशास्त्र के गम्भीर रहस्योद्घाटन के लिए प्रवृत्त किया है । आदिम मानव ने आकाश की प्रयोगशाला में सामने आनेवाले ग्रह, नक्षत्र और तारों प्रभृति का अपने कुशल चक्षुओं द्वारा पर्यवेक्षण करना प्रारम्भ किया और अनेक रहस्यों का पता लगाया । परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि तब से अब तक विश्व की रहस्यमयी प्रवृत्ति के उद्घाटन करने का प्रयत्न करने पर भी यह और उलझता जा रहा है ।

व्युत्पत्त्यर्थ

ज्योतिषशास्त्र की व्युत्पत्ति **'ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्'** की गयी है; अर्थात् सूर्यादि ग्रह और काल का बोध करानेवाले शास्त्र को ज्योतिषशास्त्र कहा जाता है । इसमें प्रधानतः ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु आदि ज्योतिःपदार्थों का स्वरूप, संचार, परिभ्रमणकाल, ग्रहण और स्थिति प्रभृति समस्त घटनाओं का निरूपण एवं ग्रह, नक्षत्रों की गति, स्थिति और संचारानुसार शुभाशुभ फलों का कथन किया जाता है । कुछ मनीषियों का अभिमत है कि नभोमण्डल में स्थित ज्योतिःसम्बन्धी विविधविषयक विद्या को ज्योतिर्विद्या कहते हैं; जिस शास्त्र में इस विद्या का सांगोपांग वर्णन रहता है, वह ज्योतिषशास्त्र है । इस लक्षण और पहलेवाले ज्योतिषशास्त्र के व्युत्पत्त्यर्थ में केवल

इतना ही अन्तर है कि पहले में गणित और फलित दोनों प्रकार के विज्ञानों का समन्वय किया गया है, पर दूसरे में खगोल ज्ञान पर ही दृष्टिकोण रखा गया है। विद्वानों का कथन है कि इस शास्त्र का प्रादुर्भाव कब हुआ, यह अभी अनिश्चित है। हाँ, इसका विकास, इसके शास्त्रीय नियमों में संशोधन और परिवर्द्धन प्राचीन काल से आज तक निरन्तर होते चले आये हैं।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र की परिभाषा और उसका क्रमिक विकास

भारतीय ज्योतिष की परिभाषा के स्कन्धत्रय—सिद्धान्त, होरा और संहिता अथवा स्कन्धपंच—सिद्धान्त, होरा, संहिता, प्रश्न और शकुन ये अंग माने गये हैं। यदि विराट् पंचस्कन्धात्मक परिभाषा का विश्लेषण किया जाये तो आज का मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, पदार्थविज्ञान, रसायनविज्ञान, चिकित्साशास्त्र इत्यादि भी इसी के अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इस शास्त्र की परिभाषा भारतवर्ष में समय-समय पर विभिन्न रूपों में मानी जाती रही है। सुदूर प्राचीन काल में केवल ज्योतिःपदार्थों—ग्रह, नक्षत्र, तारों आदि के स्वरूपविज्ञान को ही ज्योतिष कहा जाता था। उस समय सैद्धान्तिक गणित का बोध इस शास्त्र से नहीं होता था क्योंकि उस काल में केवल दृष्टि-पर्यवेक्षण द्वारा नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त करना ही अभिप्रेत था।

भारतीयों की जब सर्वप्रथम दृष्टि सूर्य और चन्द्रमा पर पड़ी थी, उन्होंने इनसे भयभीत होकर इन्हें दैवत्व रूप में मान लिया था। वेदों में कई जगह नक्षत्र, सूर्य एवं चन्द्रमा के स्तुतिपरक मन्त्र आये हैं। निश्चय ही प्रागैतिहासिक भारतीय मानव ने इनके रहस्य से प्रभावित होकर ही इन्हें दैवत्व रूप में माना है।

ब्राह्मण और आरण्यकों के समय में यह परिभाषा और विकसित हुई तथा उस काल में नक्षत्रों की आकृति, स्वरूप, गुण एवं प्रभाव का परिज्ञान प्राप्त करना ज्योतिष माना जाने लगा। आदिकाल[1] में नक्षत्रों के शुभाशुभ फलानुसार कार्यों का विवेचन तथा ऋतु, अयन, दिनमान, लग्न आदि के शुभाशुभानुसार विधायक कार्यों को करने का ज्ञान प्राप्त करना भी इस शास्त्र की परिभाषा में परिगणित हो गया। सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, वेदांग-ज्योतिष प्रभृति ग्रन्थों के प्रणयन तक ज्योतिष के गणित और फलित ये दो भेद स्पष्ट नहीं हुए थे। यह परिभाषा यहीं सीमित नहीं रही, किन्तु ज्ञानोन्नति के साथ-साथ विकसित होती हुई राशि और ग्रहों के स्वरूप, रंग, दिशा, तत्त्व, धातु इत्यादि के विवेचन भी इसके अन्तर्गत आ गये।

आदिकाल के अन्त में ज्योतिष के गणित, सिद्धान्त और फलित ये तीनों भेद स्वतन्त्र रूप में प्रस्फुटित हो गये थे। ग्रहों की गति, स्थिति, अयनांश, पात आदि गणित ज्योतिष के अन्तर्गत तथा शुभाशुभ समय का निर्णय, विधायक, यज्ञ-यागादि कार्यों के

---

१. ई. पू. ५००—ई. ५०० तक का समय।

करने के लिए समय और स्थान का निर्धारण फलित ज्योतिष का विषय माना जाता था। पूर्वमध्यकाल[1] की अन्तिम शताब्दियों में सिद्धान्त ज्योतिष के स्वरूप में भी विकास हुआ, लेकिन खगोलीय निरीक्षण और ग्रहवेध की परिपाटी के कम हो जाने से गणित के कल्पनाजाल द्वारा ही ग्रहों के स्थानों का निश्चय करना सिद्धान्त ज्योतिष के अन्तर्गत आ गया। तथा पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भ में ज्योतिष का अर्थ स्कन्धत्रय—सिद्धान्त, संहिता और होरा के रूप में ग्रहण किया गया। परन्तु इस युग के मध्य में इस परिभाषा में और भी संशोधन देखे और आगे जाकर यह पंचरूपात्मक—होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त रूप हो गयी।

होरा

इसका दूसरा नाम जातकशास्त्र है। इसकी उत्पत्ति 'अहोरात्र' शब्द से है, आदि शब्द 'अ' और अन्तिम शब्द 'त्र' का लोप कर देने से होरा शब्द बनता है। जन्मकालीन ग्रहों की स्थिति के अनुसार व्यक्ति के लिए फलाफल का निरूपण इसमें किया जाता है। इस शास्त्र में जन्मकुण्डली के द्वादश भावों के फल उनमें स्थित ग्रहों की अपेक्षा तथा दृष्टि रखनेवाले ग्रहों के अनुसार विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किये जाते हैं। मानवजीवन के सुख, दुःख, इष्ट, अनिष्ट, उन्नति, अवनति, भाग्योदय आदि समस्त शुभाशुभों का वर्णन इस शास्त्र में रहता है। होरा ग्रन्थों में फल-निरूपण के दो प्रकार हैं। एक में जातक के जन्म-नक्षत्र पर से और दूसरे में जन्म-लग्नादि द्वादश भावों पर से विस्तारपूर्वक विभिन्न दृष्टिकोणों से फलकथन की प्रणाली बतायी गयी है। होराशास्त्र पर अनेक स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। समय-समय पर इस शास्त्र में अनेक संशोधन और परिवर्तन हुए हैं। इस शास्त्र के वराहमिहिर, नारचन्द्र, सिद्धसेन, ढुण्ढिराज, केशव आदि प्रधान रचयिता हैं। आचार्य वराह ने इस शास्त्र में एक नवीन समन्वय की प्रणाली चलायी है। नारचन्द्र ने ग्रह और राशियों के स्वरूपानुसार भाव और दृष्टि के समन्वय तथा कारक, मारक आदि ग्रहों के सम्बन्धों की अपेक्षा से फल-प्रतिपादन की प्रक्रिया का प्रचलन किया है। श्रीपति एवं श्रीधर आदि ९वीं, १०वीं और ११वीं शताब्दी के होरा शास्त्रकारों ने ग्रहबल, ग्रहवर्ग, विंशोत्तरी आदि दशाओं के फलों को इस शास्त्र की परिभाषा के अन्तर्गत मान लिया है।

गणित या सिद्धान्त

इस प्रकार होराशास्त्र की परिभाषा निरन्तर विकसित होती आ रही है। इसमें त्रुटि से लेकर कल्पकाल तक की कालगणना, सौर, चान्द्र मासों का प्रतिपादन, ग्रह-गतियों का निरूपण, व्यक्त-अव्यक्त गणित का प्रयोजन, विविध प्रश्नोत्तर-विधि, ग्रह, नक्षत्र की स्थिति, नाना प्रकार के तुरीय, नलिका इत्यादि यन्त्रों की निर्माण-विधि, दिक्, देश, कालज्ञान के अनन्यतम उपयोगी अंग, अक्षक्षेत्र-सम्बन्धी अक्षज्या, लम्बज्या,

---

१. ई. ५०१–१००० तक का समय।

द्युज्या, कुज्या, तद्धृति, समशंकु इत्यादि का आनयन रहता है। प्राचीन काल में इसकी परिभाषा केवल सिद्धान्त गणित के रूप में मानी जाती थी। आदिकाल में अंकगणित द्वारा ही अहर्गण-मान साधकर ग्रहों का आनयन करना इस शास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय था। पूर्वमध्यकाल में इसकी यह परिभाषा ज्यों की त्यों अवस्थित रही। उत्तर-मध्यकाल में इसने अनेक पहलुओं के पल्लों को पकड़ा और इस युग के प्रारम्भ से वासनात्मक होती हुई भी व्यक्तगणित को अपनाती रही, इसीलिए इस काल में गणित के सिद्धान्त, तन्त्र और करण ये तीन भेद प्रकट हुए।

जिसमें सृष्ट्यादि से इष्ट दिन पर्यन्त अहर्गण बनाकर ग्रह सिद्ध किये जायें वह 'सिद्धान्त'; जिसमें युगादि से इष्ट दिन पर्यन्त अहर्गण बनाकर ग्रहगणित किया जाये वह 'तन्त्र' और जिसमें कल्पित इष्ट वर्ष का युग मानकर उस युग के भीतर ही किसी अभीष्ट दिन का अहर्गण लाकर ग्रहानयन किया जाये उसे 'करण' कहते हैं। उत्तर-मध्यकाल के अन्त में गणित ज्योतिष की परिभाषा विस्तृत होने की अपेक्षा संकुचित दिखलाई पड़ती है; क्योंकि इस युग में क्रियात्मक ग्रहगणित को छोड़ वासनात्मक (उपपत्तिविषयक) ग्रहगणित का ही आश्रय ज्योतिषियों ने ले लिया, जिससे वास्तविक ग्रहगणित का विकास कुछ रुक-सा गया। यद्यपि करण-ग्रन्थों की सारणियाँ तैयार की गयी थीं, किन्तु आगे आकाश-निरीक्षण और व्यक्तक्रियात्मक ग्रहगणित के अभाव में सारणियों में संशोधन न हो सके। इस प्रकार गणित ज्योतिष की परिभाषा कभी शैशव और कभी यौवन के साथ अठखेलियाँ करती रही।

संहिता

इसमें भूशोधन, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलापक, आयाद्यानयन, गृहोपकरण, इष्टिकाद्वार, गेहारम्भ, गृहप्रवेश, जलाशय-निर्माण, मांगलिक कार्यों के मुहूर्त, उल्कापात, वृष्टि, ग्रहों के उदयास्त का फल, ग्रहचार का फल एवं ग्रहण-फल आदि बातों का निरूपण विस्तारपूर्वक किया जाता है। मध्य युग में संहिता की परिभाषा होरा, गणित और शकुन के मिश्रित रूप में मानी गयी है। ९वीं और १०वीं शताब्दी में क्रियाकाण्ड भी इसकी परिभाषा के अन्तर्गत आ गया है। संहिताशास्त्र का जन्म आदिकाल में हुआ और इसकी परिभाषा का क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया। कुछ जैनाचार्यों ने जीवनोपयोगी आयुर्वेद की चर्चाएँ भी संहिता के अन्तर्गत रखी हैं। १२वीं और १३वीं शताब्दी में इस शास्त्र की परिभाषा इतनी विकसित हुई है कि जीवन से सम्बद्ध सभी उपयोगी लौकिक विषय इसके अन्तर्गत आ गये हैं।

प्रश्नशास्त्र

यह तत्काल फल बतलानेवाला शास्त्र है। इसमें प्रश्नकर्ता के उच्चारित अक्षरों पर से फल का प्रतिपादन किया जाता है। ईसवी सन् की ५वीं और ६ठी

शताब्दी में केवल पृच्छक के उच्चारित अक्षरों पर से फल बतलाना ही प्रश्नशास्त्र के अन्तर्गत था; लेकिन आगे आकर इस शास्त्र में तीन सिद्धान्तों का प्रवेश हुआ—(१) प्रश्नाक्षर-सिद्धान्त, (२) प्रश्नलग्न-सिद्धान्त और (३) स्वरविज्ञान-सिद्धान्त। दिगम्बर जैनग्रन्थों की अधिकतर रचनाएँ दक्षिण-भारत में होने के कारण प्राय: सभी प्रश्नग्रन्थ प्रश्नाक्षर-सिद्धान्त को लेकर निर्मित हुए हैं। अन्वेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि, चन्द्रोन्मीलन-प्रश्न, आयज्ञानतिलक, अर्हच्चूड़ामणि आदि ग्रन्थों के आधार पर ही आधुनिक काल में केरल प्रश्नशास्त्र की रचना हुई है।

वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशा के समय से प्रश्नलग्नवाले सिद्धान्त का प्रचार भारत में ज़ोरों से हुआ है। ९वीं, १०वीं और ११वीं शती में इस सिद्धान्त को विकसित होने के लिए पूर्ण अवसर मिला है, जिससे अनेक स्वतन्त्र रचनाएँ भी इस विषय पर लिखी गयी हैं। इस शास्त्र की परिभाषा में उत्तरमध्यकाल तक अनेक संशोधन और परिवर्द्धन होते रहे हैं। चर्या, चेष्टा, हाव-भाव आदि के द्वारा मनोगत भावों का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करना भी इस शास्त्र के अन्तर्गत आ गया है।

शकुन

इसका अन्य नाम निमित्तशास्त्र भी मिलता है। पूर्वमध्यकाल तक इसने पृथक् स्थान प्राप्त नहीं किया था, किन्तु संहिता के अन्तर्गत ही इसका विषय आता था। ईसवी सन् की १०वीं, ११वी और १२वीं शतियों में इस विषय पर स्वतन्त्र विचार होने लग गया था, जिससे इसने अलग शास्त्र का रूप प्राप्त कर लिया। वि. सं. १०८९ में आचार्य दुर्गदेव ने अरिष्ट विषय को भी शकुनशास्त्र में मिला दिया था। आगे चलकर इस शास्त्र की परिभाषा और भी अधिक विकसित हुई और इसकी विषयसीमा में प्रत्येक कार्य के पूर्व में होनेवाले शुभाशुभों का ज्ञान प्राप्त करना भी आ गया। वसन्तराजशकुन, अद्भुतसागर-जैसे शकुन-ग्रन्थों का निर्माण इसी परिभाषा को दृष्टि में रखकर किया गया प्रतीत होता है।

ज्योतिष का उद्भवस्थान और काल

यदि पक्षपात छोड़कर विचार किया जाये तो स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि अन्य शास्त्रों के समान भारतीय ही इस शास्त्र के आदि आविष्कर्ता हैं। योगविज्ञान, जो कि भारतीय आचार्यों की विभूति माना जाता है, इसका पृष्ठाधार है। यहाँ के ऋषियों ने योगाभ्यास द्वारा अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से शरीर के भीतर ही सौर-मण्डल के दर्शन किये और अपना निरीक्षण कर आकाशीय सौर-मण्डल की व्यवस्था की।[1] अंकविद्या जो इस शास्त्र का प्राण है, उसका आरम्भ भी भारत में ही हुआ है। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति नामक पुस्तक में श्री ओझा जी ने लिखा है—"भारत ने अन्य देशवासियों को

१. विशेष जानने के लिए इसी पुस्तक का 'जीवन और ज्योतिष' प्रकरण देखें।

जो अनेक बातें सिखायीं, उनमें सबसे अधिक महत्त्व अंकविद्या का है। संसार-भर में गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि की आज जो उन्नति पायी जाती है, उसका मूल कारण वर्तमान अंक-क्रम है, जिसमें १ से ९ तक के अंक और शून्य इन १० चिह्नों से अंक-विद्या का सारा काम चल रहा है। यह क्रम भारतवासियों ने ही निकाला और उसे सारे संसार ने अपनाया।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल में भारतीय ऋषि खगोल और ज्योतिषशास्त्र से परिचित थे। कुछ लोग भारतीय ज्योतिष में ग्रीक शब्दों का सम्मिश्रण होने के कारण तथा प्राचीन भारतीय ज्योतिष में मेष, वृष आदि १२ राशियों एवं मंगल, बुध, गुरु इत्यादि ग्रहों के नामों का स्पष्ट उल्लेख न मिलने के कारण उसे ग्रीस से आया हुआ बतलाते हैं, परन्तु विचार करने पर वास्तविक बात ऐसी प्रतीत नहीं होगी। क्योंकि उन लोगों ने आगत शब्दों के प्रमाण में होरा (लग्न और राशि-भाग), हिबुक (जन्म कुण्डली का चतुर्थ भाव), आपोक्लीम, द्रेष्काण (राशि का तृतीयांश), कण्टक (चतुर्थ भाव), पणफर, अनफा, सुनफा, दुरधरा (योगविशेष), तुंग (उच्चस्थान), मुसल्लह (नवमांश), मुन्था (जन्मलग्नस्थित किसी भी अभीष्ट वर्ष की राशि), इन्दुवार, इत्थशाल, ईसराफ, यमना, मणऊ (योगविशेष) को उपस्थित किया।

प्राचीन भारत में ग्रीस देश से अनेक विद्यार्थी विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए आते थे और वर्षों रहकर भारतीय आचार्यों से भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अध्ययन करते थे, जिससे उनके अत्यधिक सम्पर्क के कारण कुछ शब्द ई. पू. ३री शती में, कुछ ई. ६ठी शती में और कुछ १५वीं-१६वीं शती में ज्योतिष में मिल गये। भारत के कई ज्योतिर्विद् ईसवी सन् की ४थी और ५वीं शताब्दी में ग्रीस गये थे, इससे ५वीं शती के अन्त और ६ठी के प्रारम्भ में अनेक ग्रीक शब्द भारतीय ज्योतिष में आ गये।

डब्ल्यू. डब्ल्यू. हण्टर ने लिखा है कि "८वीं शती में अरबी विद्वानों ने भारत से ज्योतिषविद्या सीखी और भारतीय ज्योतिष सिद्धान्तों का 'सिन्द हिन्द' नाम से अरबी में अनुवाद किया।"[२] अरबी भाषा में लिखी गयी 'आइन-उल-अम्बाफितल काल्ली अत्वा' नामक पुस्तक में लिखा है कि "भारतीय विद्वानों ने अरबी के अन्तर्गत बगदाद की राजसभा में जाकर ज्योतिष, चिकित्सा आदि शास्त्रों की शिक्षा दी थी। कर्क नाम के एक विद्वान् शक संवत् ६९४ में बादशाह अलमसूर के दरबार में ज्योतिष और चिकित्सा के ज्ञानदान के निमित्त गये थे।"[3]

दूसरी युक्ति जो राशि और ग्रहों के स्पष्ट नामोल्लेख न मिलने के रूप में दी गयी है, निस्सार है। क्योंकि जब प्राचीन साहित्य में सौर-जगत् के सूक्ष्म अवयव नक्षत्रों का ज़िक्र मिलता है तब स्थूल अवयव राशि का ज्ञान कैसे न रहा होगा ?

---

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति : पृ. १०८।

२. हण्टर इण्डियन गजेटियर-इण्डिया : पृ. २१८।

३. ज्योतिषरत्नाकर : प्रथम भाग—भूमिका।

आकाश की ओर दृष्टि डालते ही सर्वप्रथम राशियों का ही दर्शन होता है, नक्षत्रों का नहीं। नक्षत्रों का दर्शन राशि-दर्शन के पश्चात् सूक्ष्म निरीक्षण करने पर होता है। अतएव राशिज्ञान के अभाव में नक्षत्रों का प्रतिपादन सम्भव नहीं कहा जा सकता।

ऋग्वेदसंहिता में चक्र शब्द आया है, जो राशिचक्र का बोधक है। **"द्वादशारं नहि तज्जराय"**[1] इस मन्त्र में द्वादशारं शब्द १२ राशियों का बोधक है। प्रकरणगत विशेषताओं के ऊपर ध्यान देने से इस मन्त्र में स्पष्टतया द्वादश राशियों का निर्देश मिलेगा। श्री डॉ. सम्पूर्णानन्द जी,[2] सम्मान्य भू. पू. मुख्यमन्त्री, उत्तरप्रदेश 'द्वादशारं' शब्द को द्वादश राशियों के बोधक होने में शंका करते हैं तथा द्वादश महीनों का द्योतक होने की सम्भावना करते हैं, परन्तु उनकी यह सम्भावना तर्कसंगत नहीं। कारण स्पष्ट है कि इस मन्त्र के आगेवाले भाग में ३६० दिन वर्ष—१२ राशियों के माने गये हैं। १२ महीनों के ३६० दिन नहीं हो सकते, क्योंकि चान्द्रमास २९॥ दिन से अधिक नहीं होता, इस हिसाब से वर्ष में ३५४ दिन होते हैं, किन्तु मन्त्र में ३६० दिन बताये गये हैं, जो कि द्वादश राशि मान लेने पर ठीक आ जाते हैं। प्रत्येक राशि में ३० अंश तथा प्रत्येक अंश का माध्यम मान एक दिन इस प्रकार ३६० दिन द्वादश राश्यात्मक चक्र में हो जाते हैं। जैन-ज्योतिष के विद्वान् गर्ग, ऋषिपुत्र और कालकाचार्य ने परम्परागत राशिचक्र का निरूपण किया है।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् भारतीय ज्योतिष को बैबिलोन से आया हुआ बतलाते हैं। उन्होंने लिखा है कि भारतीय बैबिलोन गये और वहाँ से ज्योतिष सीखकर आये; मैक्स-मूलर ने इस मत की समीक्षा करते हुए लिखा—

"The twenty seven constellations, which were chosen in India as a kind of lunar zodiac, were supposed to have come from Babylon. Now the Babylonian zodiac was solar, and in spite of repeated researches, no trace of lunar zodiac has been found,..............But supposing even that a lunar zodiac had been discovered in Babylon, no one acquainted with Vedic literature and with the ancient Vedic Ceremonial would easily allow himself to be persuaded that the Hindus had borrowed that simple division of the sky from the Babylonians. It is well known that most of the Vedic sacrifices depend on the moon, far more than on the sun."

Vol. XIII, Lecture iv. 'objections', pp. 126-127.

---

१. ऋक् सं. : १, १६४, ११।
२. क्या भारतीय ज्योतिष ग्रीस से आया है ? 'साप्ताहिक संसार' ५ जुलाई, १९४५।

अर्थात्—प्राचीन भारतीय विद्वान् खगोल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बैबिलोन गये और वहाँ की भाषा सीखकर खगोल विद्या सीखी। भारत वापस आकर सूर्य को आधार मानकर आकाश के विभाग करने में कठिनाई का अनुभव किया, क्योंकि सूर्योदय होने पर अधिकांश नक्षत्र दूर-दर्शक यन्त्र से भी नहीं देखे जा सकते और इस कारण चन्द्रमा के आधार पर आकाश को २७ नक्षत्रों में बाँटा; चन्द्रमा की विभिन्न कलाओं का अध्ययन करके उसके अनुसार पक्ष, मास और वर्ष बनाये, जिन्हें आगे चलकर सौर समय से सम्बद्ध कर दिया गया। यह सब हास्यास्पद मालूम होता है। अनुकरण जहाँ भी किया जाता है, वहाँ पूर्ण रूप से, और उस अनुकरण की पूरी छाप इतिहास पर लग जाती है। भारतीय खगोल के इतिहास में बैबिलोन के खगोल की छाप हमें मिलती ही नहीं है। बैबिलोन में सूर्य की गतियों को दृष्टि में रखकर नक्षत्रों का विभाजन किया गया है, पर भारत में चन्द्रमा को प्रधान मानकर आकाश का बँटवारा २८ नक्षत्रों में किया है। मैक्समूलर ने आगे बताया है—

"We must never forget that what is natural in one place is natural in other places also, and...........no case has been made out in favour of a foreign origin of the elementary astronomical notions of the Hindus as found or presupposed in the Vedic hymns."

— Objections, p. 130

अर्थात्—भारतीयों की आकाश का रहस्य जानने की भावना विदेशीय प्रभाववश उद्भूत नहीं हुई, बल्कि स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हुई है। अतएव स्पष्ट है कि भारतीय ज्योतिष का जन्मस्थान भारत है, इसके ऊपर पूर्वमध्यकाल में विदेशीय सम्पर्क के कारण कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है; परन्तु मूलभूत भावना भारत की ही है। मूल ज्योतिष के तत्त्व इसी पुण्यभूमि में आज से हजारों वर्ष पहले आविष्कृत हुए हैं।

ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि आज से कम से कम २८००० वर्ष पहले भारतीयों ने खगोल और ज्योतिषशास्त्र का मन्थन किया था। वे आकाश में चमकते हुए नक्षत्रपुंज, शशिपुंज, देवतापुंज, आकाशगंगा, नीहारिका आदि के नाम, रूप, रंग, आकृति से पूर्णतया परिचित थे।

कौन-सा नक्षत्र ज्योतिपूर्ण है, नभोमण्डल में ग्रहों के संचार से आकर्षण कैसे होता है? तथा ग्रहों के प्रकाश का प्रभाव पृथ्वी स्थित प्राणियों पर कैसे पड़ता है, इत्यादि बातों का वेदों में वर्णन है।[1]

जैनग्रन्थ सूर्यप्रज्ञप्ति, गर्गसंहिता, ज्योतिष्करण्डक इत्यादि में ज्योतिषशास्त्र की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट

१. Orion or Researches into Antiquity of Vedas, pp. 1-9; 17-38.

मालूम हो जाता है कि उदयकाल में भारतीय ज्योतिष कितना उन्नतिशील था। अयन, मलमास, क्षयमास, नक्षत्रों की श्रेणियाँ, सौरमास, चान्द्रमास आदि का सूक्ष्म विवेचन ज्योतिष्करण्डक में सुन्दर ढंग से भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता और मौलिकता सिद्ध कर रहा है।[1]

भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता पर विदेशी विद्वानों के अभिमत

भारतीय ज्योतिष को प्राचीन और मौलिक केवल भारतीय विद्वान् ही सिद्ध नहीं करते हैं, बल्कि अनेक विदेशीय विद्वानों ने भी इसकी प्राचीनता स्वीकार की है। यहां कुछ विद्वानों के मत दिये जाते हैं—

[१] अलबरूनी ने लिखा है कि "ज्योतिषशास्त्र में हिन्दू लोग संसार की सभी जातियों से बढ़कर हैं। मैंने अनेक भाषाओं के अंकों के नाम सीखे हैं, पर किसी जाति में भी हज़ार से आगे की संख्या के लिए मुझे कोई नाम नहीं मिला। हिन्दुओं में अठारह अंकों तक की संख्या के लिए नाम हैं, जिनमें अन्तिम संख्या का नाम परार्द्ध बताया गया है।"[2]

[२] प्रो. मैक्समूलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "भारतवासी आकाश-मण्डल और नक्षत्र-मण्डल आदि के बारे में अन्य देशों के ऋणी नहीं हैं। मूल आविष्कर्ता वे ही इन वस्तुओं के हैं।"[3]

[३] फ्रान्सीसी पर्यटक फ्राक्वीस वर्नियर भी भारतीय ज्योतिष-ज्ञान की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि "भारतीय अपनी गणना द्वारा चन्द्र और सूर्य ग्रहण की बिलकुल ठीक भविष्यद्वाणी करते हैं। इनका ज्योतिषज्ञान प्राचीन और मौलिक है।"[4]

[४] फ्रान्सीसी यात्री टरवीनियर ने भी भारतीय ज्योतिष की प्राचीनता और विशालता से प्रभावित होकर कहा है कि "भारतीय ज्योतिष-ज्ञान में प्राचीन काल से ही अतीव निपुण हैं।"[5]

[५] एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ ब्रिटैनिका में लिखा है कि "इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे (अँगरेज़ी) वर्तमान अंक-क्रम की उत्पत्ति भारत से है। सम्भवतः खगोल-सम्बन्धी उन सारणियों के साथ जिनको एक भारतीय राजदूत ईसवी सन् ७७३ में बग़दाद में लाया, इन अंकों का प्रवेश अरब में हुआ। फिर ईसवी सन् की ९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में प्रसिद्ध अबुजफ़र मोहम्मद अल् खारिज्मी ने अरबी में उक्त क्रम का विवेचन किया और उसी समय से अरबों में उसका प्रचार बढ़ने लगा। युरेप में शून्य सहित यह सम्पूर्ण अंक-क्रम ईसवी सन् की १२वीं शताब्दी में

१. देखें—वेदांग ज्योतिष की भूमिका : भाग पृ. १-२६ तक डॉ. श्यामशास्त्री।
२. अलबरूनीज़ इण्डिया : जिल्द १, पृ. १७४-१७७।
३. इण्डिया व्हाट केन इट टीच अस : पृ- ३६०-३६६।
४. ट्रावेल्स इन दी मुगल इम्पायर : पृ. ३२९।
५. टरवीनियरस् ट्रेविल इन इण्डिया : पृ. ४१३।

अरबों से लिया गया और इस क्रम से बना हुआ अंकगणित 'अल् गोरिद्मस' नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[1]

[६] कॉण्ट ऑर्मस्टर्जन ने लिखा है कि "वेली द्वारा किये गये गणित से यह प्रतीत होता है कि ईसवी सन् से ३००० वर्ष पूर्व में ही भारतीयों ने ज्योतिषशास्त्र और भूमितिशास्त्र में अच्छी पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी।"[2]

[७] कर्नल टॉड ने अपने राजस्थान नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "हम उन ज्योतिषियों को कहाँ पा सकते हैं, जिनका ग्रहमण्डल-सम्बन्धी ज्ञान अब भी युरोप में आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है।"[3]

[८] मिस्टर मारिया ग्राह्म की सम्मति है कि "समस्त मानवीय परिष्कृत विज्ञानों में ज्योतिष मनुष्य को ऊँचा उठा देता है।...इसके प्रारम्भिक विकास का इतिहास संसार की मानवता के उत्थान का इतिहास है। भारत में इसके आदिम अस्तित्व के बहुत-से प्रमाण मौजूद हैं।"[4]

[९] मिस्टर सी. वी. क्लार्क एफ़. जी. एफ़. कहते हैं कि "अभी बहुत वर्ष पीछे तक हम सुदूर स्थानों के अक्षांश (Longitudes) के विषय में निश्चयात्मक रूप से ज्ञान नहीं रखते थे, किन्तु प्राचीन भारतीयों ने ग्रहण-ज्ञान के समय से ही इन्हें जान लिया था। इनकी यह अक्षांश, रेखांशवाली प्रणाली वैज्ञानिक ही नहीं, अचूक है।"[5]

[१०] प्रो. विल्सन ने कहा है कि "भारतीय ज्योतिषियों को प्राचीन खलीफ़ों विशेषकर हारूँरशीद और अलमायन ने भलीभाँति प्रोत्साहित किया। वे बग़दाद आमन्त्रित किये गये और वहाँ उनके ग्रन्थों का अनुवाद हुआ।"[6]

[११] डॉक्टर राबर्टसन का कथन है कि "१२ राशियों का ज्ञान सबसे पहले भारतवासियों को ही हुआ था। भारत ने प्राचीन काल में ज्योतिर्विद्या में अच्छी उन्नति की थी।"[7]

[१२] प्रो. कोलब्रुक और वेबर साहब ने लिखा है कि "भारत को ही सर्वप्रथम चान्द्रनक्षत्रों का ज्ञान था। चीन और अरब के ज्योतिष का विकास भारत से ही हुआ है। उनका क्रान्तिमण्डल हिन्दुओं का ही है। निस्सन्देह उन्हीं से अरबवालों ने इसे लिया था।"

---

१. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ ब्रिटैनिका : जिल्द १७, पृ. ६२६।
२. Theogony of the Hindus : p. 37.
३. टॉड राजस्थान भूमिका : भाग पृ. ५-११।
४. Letters on India : p. 100-111.
५. Theogony of Hindus : p. 37.
६. Ancient and Mediaeval India : Vol. I, p. 114.
७. भारतीय सभ्यता और उसका विश्वव्यापी प्रभाव : पृ. ११७।

[१३] विख्यात चीनी विद्वान् लियाँग चिचाव के शब्दों में "वर्तमान सभ्य जातियों ने जब हाथ-पैर हिलाना भी प्रारम्भ नहीं किया था तभी हम दोनों भाइयों ने (चीन और भारत) मानव-सम्बन्धी समस्याओं को ज्योतिष-जैसे विज्ञान द्वारा सुलझाना आरम्भ कर दिया था।"[१]

[१४] प्रो. वेलस महोदय ने प्लेफसर साहब की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिनका आशय है कि ज्योतिष-ज्ञान के बिना बीजगणित की रचना कठिन है। विद्वान् विल्सन कहते हैं कि "भारत ने ज्योतिष और गणित के तत्त्वों का आविष्कार अति प्राचीनकाल में किया था।"[२]

[१५] डी. मार्गन ने स्वीकार किया है कि "भारतीयों का गणित और ज्योतिष यूनान के किसी भी गणित या ज्योतिष के सिद्धान्त की अपेक्षा महान् है। इनके तत्त्व प्राचीन और मौलिक हैं।"[3]

[१६] डॉ. थीबो बहुत सोच-विचार और समालोचना के अनन्तर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "भारत ही रेखागणित के मूल सिद्धान्तों का आविष्कर्ता है। इसने नक्षत्रविद्या में भी पुरातन काल में ही प्रवीणता प्राप्त कर ली थी, यह रेखागणित के सिद्धान्तों का उपयोग इस विद्या को जानने के लिए करता था।"

[१७] वर्जेस महोदय ने सूर्यसिद्धान्त के अँगरेजी अनुवाद के परिशिष्ट में अपना मत उद्धृत करते हुए बताया है कि भारत का ज्योतिष टालमी के सिद्धान्तों पर आश्रित नहीं है, किन्तु इसने ई. सन् के बहुत पहले ही इस विषय का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था।[४]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय ज्योतिषशास्त्र का उद्भवस्थान भारत ही है। इसने किसी देश से सीखकर यहाँ प्रचार नहीं किया है। श्री लोकमान्य तिलक ने अपनी 'ओरायन' नामक पुस्तक में बताया है कि भारत का नक्षत्र-ज्ञान, जिसका कि वेदों में वर्णन आता है, ईसवी सन् से कम से कम पाँच हजार वर्ष पहले का है। भारतीय नक्षत्रविद्या में अत्यन्त प्रवीण थे। अतएव बैबीलोन या यूनान अथवा ग्रीस से भारत में यह विद्या नहीं आयी है। ई. सन् पूर्व दूसरी शताब्दी तक इस शास्त्र में आदान-प्रदान भी नहीं हुआ, किन्तु ई. सन् २-६ शती तक विदेशियों के अत्यधिक सम्पर्क के कारण पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ है। पाश्चात्त्य सभ्यता के स्नेही कुछ समालोचक इसी काल के साहित्य को देखकर भारतीय ज्योतिष को यूनान या ग्रीस से आया बतलाते हैं।

---

१. Letters on India : p. 109-111.
२. Mill's India : Vol. II, p. 151.
३. Ancient and Mediaeval India : Vol. I, p. 374.
४. पञ्चसिद्धान्तिका की भूमिका : p. LIII—LV.

बैबिलोनी भाषा के कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जो संस्कृत में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं, ज्योतिषशास्त्र में इन शब्दों का प्रयोग देखकर इसे बैबीलोन से आया हुआ सिद्ध करने की असफल चेष्टा कुछ समीक्षक करते हैं, किन्तु ज्योतिष के मूलबीजों और अपनी परम्परा के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विज्ञान भारतीय ज्योतिषियों के मस्तिष्क की ही उपज है। हाँ, जैसे इस देश ने अरब आदि को इस विज्ञान की शिक्षा दी, उसी प्रकार यूनान और बैबीलोन से पुराना सम्पर्क होने के कारण कुछ ग्रहण भी किया। पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ये देश ही इस विज्ञान के लिए भारत के गुरु हैं।

जी. आर. के. ने अपनी हिन्दू एस्टॉनॅमी नामक पुस्तक में बताया है कि "भारत ने टालमी के ज्योतिषसिद्धान्त का उपयोग तो कम ही किया है, किन्तु प्राचीन यूनानी सिद्धान्तों की परम्परा का निर्वाह ही बहुत काल तक करता रहा है। इसके मूलभूत सिद्धान्त यवनों के सम्पर्क से ही प्रस्फुटित हुए हैं। राशियों की नामावली भी भारतीय नहीं है," आदि। गम्भीरता से सोचने पर तथा इस शास्त्र के इतिहास का अवलोकन करने पर यह धारणा भ्रान्त सिद्ध हो जाती है। अतः ईसवी सन् से कम से कम दस हज़ार वर्ष पहले भारत ने ज्योतिषविज्ञान का आविष्कार किया था।

मानव-जीवन और भारतीय ज्योतिष

मनुष्य स्वभाव से ही अन्वेषक प्राणी है। वह सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने जीवन का तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। उसकी इसी प्रवृत्ति ने ज्योतिष के साथ जीवन का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य किया है। फलतः वह अपने जीवन के भीतर ज्योतिष तत्त्वों का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता है। इसी कारण वह शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव को, ज्योतिष की कसौटी पर कसकर देखना चाहता है कि ज्योतिष का जीवन में क्या स्थान है?

समस्त भारतीय ज्ञान की पृष्ठभूमि दर्शनशास्त्र है, यही कारण है कि भारत अन्य प्रकार के ज्ञान को दार्शनिक मापदण्ड द्वारा मापता है। इसी अटल सिद्धान्त के अनुसार वह ज्योतिष को भी इसी दृष्टिकोण से देखता है। भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा अमर है, इसका कभी नाश नहीं होता है, केवल यह कर्मों के अनादि प्रवाह के कारण पर्यायों को बदला करता है। अध्यात्मशास्त्र का कथन है कि दृश्य सृष्टि केवल नाम रूप या कर्म ही नहीं है, किन्तु इस नामरूपात्मक आवरण के लिए आधारभूत एक अरूपी, स्वतन्त्र और अविनाशी आत्मतत्त्व है तथा प्राणीमात्र के शरीर में रहनेवाला यह तत्त्व नित्य एवं चैतन्य है, केवल कर्मबन्ध के कारण वह परतन्त्र और विनाशीक दिखलाई पड़ता है। वैदिक दर्शनों में कर्म के संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद माने गये हैं। किसी के द्वारा वर्तमान क्षण तक किया गया जो कर्म है—चाहे वह इस जन्म में किया गया हो या पूर्व जन्मों में, वह सब संचित कहलाता है। अनेक जन्म-

जन्मान्तरों के संचित कर्मों को एक साथ भोगना सम्भव नहीं है; क्योंकि इनसे मिलनेवाले परिणामस्वरूप फल परस्पर-विरोधी होते हैं, अतः इन्हें एक के बाद एक कर भोगना पड़ता है। संचित में से जितने कर्मों के फल को पहले भोगना शुरू होता है, उतने ही को प्रारब्ध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि संचित अर्थात् समस्त जन्म-जन्मान्तर के कर्मों के संग्रह में से एक छोटे भेद को प्रारब्ध कहते हैं। यहाँ इतना स्मरण रखना होगा कि समस्त संचित का नाम प्रारब्ध नहीं, बल्कि जितने भाग का भोगना आरम्भ हो गया है, प्रारब्ध है। जो कर्म अभी हो रहा है या जो अभी किया जा रहा है, वह क्रियमाण है। इस प्रकार इन तीन तरह के कर्मों के कारण आत्मा अनेक जन्मों—पर्यायों को धारण कर संस्कार अर्जन करता चला आ रहा है।

आत्मा के साथ अनादिकालीन कर्म-प्रवाह के कारण लिंगशरीर—कार्मण शरीर और भौतिक स्थूल शरीर का सम्बन्ध है। जब एक स्थान से आत्मा इस भौतिक शरीर का त्याग करता है तो लिंगशरीर उसे अन्य स्थूल शरीर की प्राप्ति में सहायक होता है। इस स्थूल भौतिक शरीर में विशेषता यह है कि इसमें प्रवेश करते ही आत्मा जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की निश्चित स्मृति को खो देता है। इसलिए ज्योतिर्विदों ने प्राकृतिक ज्योतिष के आधार पर कहा है कि यह आत्मा मनुष्य के वर्तमान स्थूल शरीर में रहते हुए भी एक से अधिक जगत् के साथ सम्बन्ध रखता है। मानव का भौतिक शरीर प्रधानतः ज्योतिः, मानसिक और पौद्गलिक इन तीन उपशरीरों में विभक्त है। यह ज्योतिः उपशरीर Astrals body द्वारा नाक्षत्र जगत् से, मानसिक उपशरीर द्वारा मानसिक जगत् से और पौद्गलिक उपशरीर द्वारा भौतिक जगत् से सम्बद्ध है। अतः मानव प्रत्येक जगत् से प्रभावित होता है तथा अपने भाव, विचार और क्रिया द्वारा प्रत्येक जगत् को प्रभावित करता है। उसके वर्तमान शरीर में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक शक्तियों का धारक आत्मा सर्वत्र व्यापक है तथा शरीर प्रमाण रहने पर भी अपनी चैतन्य क्रियाओं द्वारा विभिन्न जगतों में अपना कार्य करता है। मनोवैज्ञानिकों ने आत्मा की इस क्रिया की विशेषता के कारण ही मनुष्य के व्यक्तित्व को बाह्य और आन्तरिक दो भागों में विभक्त किया है।

बाह्य व्यक्तित्व—वह है जिसने इस भौतिक शरीर के रूप में अवतार लिया है। यह आत्मा की चैतन्य क्रिया की विशेषता के कारण अपने पूर्वजन्म के निश्चित प्रकार के विचार, भाव और क्रियाओं की ओर झुकाव प्राप्त करता है तथा इस जीवन के अनुभवों के द्वारा इस व्यक्तित्व के विकास में वृद्धि होती है और यह धीरे-धीरे विकसित होकर आन्तरिक व्यक्तित्व में मिलने का प्रयास करता है।

आन्तरिक व्यक्तित्व—वह है जो अनेकों बाह्य व्यक्तित्वों की स्मृतियों, *अनुभवों और प्रवृत्तियों का संश्लेषण अपने में रखता है।*

बाह्य और आन्तरिक इन दोनों व्यक्तित्व सम्बन्धी चेतना के ज्योतिष में विचार, अनुभव और क्रिया ये तीन रूप माने गये हैं। बाह्य व्यक्तित्व के तीन रूप आन्तरिक

व्यक्तित्व के इन तीनों रूपों से सम्बन्ध हैं, पर आन्तरिक व्यक्तित्व के तीन रूप अपनी निजी विशेषता और शक्ति रखते हैं, जिससे मनुष्य के भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक इन तीनों जगतों का संचालन होता है। मनुष्य का अन्तःकरण इन दोनों व्यक्तित्व के उक्त तीनों रूपों को मिलाने का कार्य करता है। दूसरे दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि ये तीनों रूप एक मौलिक अवस्था में आकर्षण और विकर्षण की प्रवृत्ति द्वारा अन्तःकरण की सहायता से सन्तुलित रूप को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि आकर्षण की प्रवृत्ति बाह्य व्यक्तित्व को और विकर्षण की प्रवृत्ति आन्तरिक व्यक्तित्व को प्रभावित करती है और इन दोनों के बीच में रहनेवाला अन्तःकरण इन्हें सन्तुलन प्रदान करता है। मनुष्य की उन्नति और अवनति इन सन्तुलन के पलड़े पर ही निर्भर है।

मानव जीवन के बाह्य व्यक्तित्व के तीन रूप और आन्तरिक व्यक्तित्व के तीन रूप तथा एक अन्तःकरण इन सात के प्रतीक सौर-जगत् में रहनेवाले ७ ग्रह माने गये हैं। उपर्युक्त ७ रूप सब प्राणियों के एक-से नहीं होते हैं, क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों के संचित, प्रारब्ध कर्म विभिन्न प्रकार के हैं, अतः प्रतीक रूप ग्रह अपने-अपने प्रतिरूप्य के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की बातें प्रकट करते हैं। प्रतिरूप्यों की सच्ची अवस्था बीजगणित की अव्यक्त मान कल्पना द्वारा निष्पन्न अंकों के समान प्रकट हो जाती है।

आधुनिक वैज्ञानिक प्रत्येक वस्तु की आन्तरिक रचना सौर-मण्डल से मिलती-जुलती बतलाते हैं। उन्होंने परमाणु के सम्बन्ध में अन्वेषण करते हुए बताया है कि प्रत्येक पदार्थ की सूक्ष्म रचना का आधार परमाणु हैं। अथवा यों कहें कि परमाणु की ईंटों को जोड़कर पदार्थ का विशाल भवन निष्पन्न होता है और यह परमाणु सौर-जगत् के समान आकार-प्रकारवाला है। इसके मध्य में एक धनविद्युत् का बिन्दु है, जिसे केन्द्र कहते हैं। इसका व्यास एक इंच के १० लाखवें भाग का भी १० लाखवाँ भाग बताया गया है। परमाणु के जीवन का सार इसी केन्द्र में बसता है। इस केन्द्र के चारों ओर अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विद्युत्कण चक्कर लगाते रहते हैं और ये केन्द्रवाले धन-विद्युत्कण के साथ मिलने का उपक्रम करते रहते हैं। इस प्रकार के अनन्त परमाणुओं के समाहार का एकत्र स्वरूप हमारा शरीर है। भारतीय दर्शन में भी 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सिद्धान्त प्राचीन काल से ही प्रचलित है। तात्पर्य यह है कि वास्तविक सौरजगत् में सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों के भ्रमण करने में जो नियम कार्य करते हैं, वे ही नियम प्राणीमात्र के शरीर में स्थित सौर-जगत् के ग्रहों के भ्रमण करने में भी काम करते हैं। अतः आकाश स्थित ग्रह शरीर स्थित ग्रहों के प्रतीक हैं।

प्रथम कल्पनानुसार बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व के ६ रूप तथा १ अन्तःकरण इन सातों प्रतिरूप्यों के प्रतीक ग्रह निम्न प्रकार हैं :

१. बाह्य व्यक्तित्व के प्रथम रूप-विचार का प्रतीक बृहस्पति है। यह प्राणीमात्र के शरीर का प्रतिनिधित्व करता है और शरीर संचालन के लिए रक्त प्रदान करता है। जीवित प्राणी के रक्त में रहनेवाले कीटाणुओं की चेतना से इसका

सम्बन्ध रहता है। इस प्रतीक द्वारा बाह्य व्यक्तित्व के प्रथम रूप से होनेवाले कार्यों का विश्लेषण किया जाता है। इसलिए ज्योतिषशास्त्र में प्रत्येक ग्रह से किसी भी मनुष्य के आत्मिक, अनात्मिक और शारीरिक इन तीन प्रकार के दृष्टिकोण से फल का विचार किया जाता है। कारण स्पष्ट है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के किसी भी रूप का प्रभाव शरीर, आत्मा और बाह्य जड़, चेतन पदार्थ, जो शरीर से भिन्न हैं, पड़ता है। उदाहरण के लिए बाह्य व्यक्तित्व के प्रथम रूप विचार को लिया जा सकता है; मनुष्य के विचार का प्रभाव शरीर और चेतना शक्तियाँ—स्मृति, अनुभव, प्रत्यभिज्ञा आदि तथा मनुष्य से सम्बद्ध अन्य वस्तुओं पर भी पड़ता है। इन तीनों से अलग रहकर मनुष्य कुछ नहीं कर सकेगा, उसका जीवन जड़वत् स्तम्भित हो जायेगा। अतएव प्रथम रूप के प्रतीक बृहस्पति का विवेचन निम्न प्रकार अवगत करना चाहिए।

अनात्मा—इस दृष्टिकोण से बृहस्पति व्यापार, कार्य, वे स्थान और व्यक्ति जिनका सम्बन्ध धर्म और क़ानून से है—मन्दिर, पुजारी, मन्त्री, न्यायालय, न्यायाधीश, शिक्षा संस्थाएँ, विश्वविद्यालय, धारासभाएँ, जनता के उत्सव, दान, सहानुभूति आदि का प्रतिनिधित्व करता है।

आत्मा—इस दृष्टिकोण से यह ग्रह विचार मनोभाव और इन दोनों का मिश्रण, उदारता, अच्छा स्वभाव, सौन्दर्य प्रेम, शक्ति, भक्ति एवं व्यवस्थाबुद्धि, ज्ञान-ज्योतिष-तन्त्र-मन्त्र-विचार शक्ति इत्यादि आत्मिक भावों का प्रतिनिधित्व करता है।

शरीर—इस दृष्टिकोण से पैर, जंघा, जिगर, पाचनक्रिया, रक्त एवं नसों का प्रतिनिधित्व करता है।

२. बाह्य व्यक्तित्व के द्वितीय रूप का प्रतीक मंगल है। यह इन्द्रियज्ञान और आनन्देच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। जितने भी उत्तेजक और संवेदनाजन्य आवेग हैं उनका यह प्रधान केन्द्र है। बाह्य आनन्ददायक वस्तुओं के द्वारा यह क्रियाशील होता है और पूर्व की आनन्ददायक अनुभवों की स्मृतियों को जागृत करता है। वांछित वस्तु की प्राप्ति तथा उन वस्तुओं की प्राप्ति के उपायों के कारणों की क्रिया का प्रधान उद्‌गम है। यह प्रधान रूप से इच्छाओं का प्रतीक है।

अनात्मिक दृष्टिकोण से—यह सैनिक, डॉक्टर, प्रोफ़ेसर, इंजीनियर, रासायनिक, नाई, बढ़ई, लुहार, मशीन का कार्य करनेवाला, मकान बनानेवाला, खेल एवं खेल के सामान आदि का प्रतिनिधित्व करता है।

आत्मिक दृष्टिकोण से—यह साहस, बहादुरी, दृढ़ता, आत्मविश्वास, क्रोध, लड़ाकू-प्रवृत्ति एवं प्रभुत्व प्रभृति भावों और विचारों का प्रतिनिधि है।

शारीरिक दृष्टिकोण से—यह बाहरी सिर—खोपड़ी, नाक एवं गाल का प्रतीक है। इसके द्वारा संक्रामक रोग, घाव, खरौंच, ऑपरेशन, रक्तदोष, दर्द आदि अभिव्यक्त होते हैं।

३. बाह्य व्यक्तित्व के तृतीय रूप का प्रतीक चन्द्रमा है, यह मानव पर

शारीरिक प्रभाव डालता है और विभिन्न अंगों तथा उनके कार्यों में सुधार करता है। वस्तु-जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले पिछले मस्तिष्क पर इसका प्रभाव पड़ता है। बाह्य जगत् की वस्तुओं द्वारा जो क्रियाएँ होती हैं, उनका इससे विशेष सम्बन्ध है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चन्द्रमा स्थूल शरीरगत चेतना के ऊपर प्रभाव डालता है तथा मस्तिष्क में उत्पन्न होनेवाले परिवर्तनशील भावों का प्रतिनिधि है।

अनात्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से—यह श्वेत रंग, जहाज, बन्दरगाह, मछली, जल, तरल पदार्थ, नर्स, दासी, भोजन, रजत एवं बैंगनी रंग के पदार्थों पर प्रभाव डालता है।

आत्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से—यह संवेदन, आन्तरिक इच्छा, उतावलापन, भावना, विशेषतः घरेलू जीवन की भावना, कल्पना, सतर्कता एवं लाभेच्छा पर प्रभाव डालता है।

शारीरिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से—इसका पेट, पाचनशक्ति, आँतें, स्तन, गर्भाशय, योनिस्थान, आँख एवं नारी के समस्त गुप्तांगों पर प्रभाव पड़ता है।

४. आन्तरिक व्यक्तित्व के प्रथम रूप का प्रतीक शुक्र है, यह सूक्ष्म मानव चेतनाओं की विधेय क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करता है। पूर्णबली शुक्र निःस्वार्थ प्रेम के साथ प्राणीमात्र के प्रति भ्रातृत्व-भावना का विकास करता है।

अनात्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से—इसका सुन्दर वस्तुएँ, आभूषण, आनन्द-दायक चीजें—नाच, गान, वाद्य, सजावट की चीजें, कलात्मक वस्तुएँ एवं भोगोपभोग की सामग्री आदि पर प्रभाव पड़ता है।

आत्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से—स्नेह, सौन्दर्य-ज्ञान, आराम, आनन्द-विशेष प्रेम, स्वच्छता, परख-बुद्धि, कार्यक्षमता आदि पर इसका प्रभाव पड़ता है।

शारीरिक दृष्टिकोण से—गला, गुरदा, आकृति, वर्ण, केश—जहाँ तक सौन्दर्य से सम्बन्ध है, साधारणतः शरीर-संचालित करनेवाले अंग एवं लिंग आदि पर इसका प्रभाव पड़ता है।

५. आन्तरिक व्यक्तित्व के द्वितीय रूप का प्रतिनिधि बुध है। यह प्रधान रूप से आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है। इसके द्वारा आन्तरिक प्रेरणा, सहेतुक-निर्णयात्मक बुद्धि, वस्तु-परीक्षण-शक्ति, समझ और बुद्धिमानी आदि का विश्लेषण किया जाता है। इस प्रतीक में विशेषता यह रहती है कि गम्भीरतापूर्वक किये गये विचारों का विश्लेषण बड़ी खूबी से करता है।

अनात्मिक दृष्टिकोण से—स्कूल, कॉलिज का शिक्षण, विज्ञान, वैज्ञानिक और साहित्यिक स्थान, प्रकाशन-स्थान, सम्पादक, लेखक, प्रकाशक, पोस्ट-मास्टर, व्यापारी एवं बुद्धिजीवियों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। पीले रंग और पारा धातु पर भी यह अपना प्रभाव डालता है।

आत्मिक दृष्टिकोण से—यह समझ, स्मरण शक्ति, खण्डन-मण्डन शक्ति, सूक्ष्म

कलाओं की उत्पादन शक्ति एवं तर्कणा आदि का प्रतिनिधि है।

शारीरिक दृष्टिकोण से—यह मस्तिष्क, स्नायु क्रिया, जिह्वा, वाणी, हाथ तथा कलापूर्ण कार्योत्पादक अंगों पर प्रभाव डालता है।

६. आन्तरिक व्यक्तित्व के तृतीय रूप का प्रतिनिधि सूर्य है। यह पूर्ण दैवत्व की चेतना का प्रतीक है, इसकी सात किरणें हैं जो कार्यरूप से भिन्न होती हुई भी इच्छा के रूप में पूर्ण होकर प्रकट होती हैं। मनुष्य के विकास में सहायक तीनों प्रकार की चेतनाओं के सन्तुलित रूप का यह प्रतीक है। यह पूर्ण इच्छा-शक्ति, ज्ञानशक्ति, सदाचार, विश्राम, शान्ति, जीवन की उन्नति एवं विकास का द्योतक है।

अनात्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से—जो व्यक्ति दूसरों पर अपना प्रभाव रखते हों ऐसे राजा, मन्त्री, सेनापति, सरदार, आविष्कारक, पुरातत्त्ववेत्ता आदि पर अपना प्रभाव डालता है।

आत्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा से—यह प्रभुता, ऐश्वर्य, प्रेम, उदारता, महत्त्वाकांक्षा, आत्मविश्वास, आत्मनियन्त्रण, विचार और भावनाओं का सन्तुलन एवं सहृदयता का प्रतीक है।

शारीरिक दृष्टि से—हृदय, रक्त-संचालन, नेत्र, रक्त-वाहक छोटी नसें, दाँत, कान आदि अंगों का प्रतिनिधि है।

७. अन्तःकरण का प्रतीक शनि है। यह बाह्य चेतना और आन्तरिक चेतना को मिलाने में पुल का काम करता है। प्रत्येक नवजीवन में आन्तरिक व्यक्तित्व से जो कुछ प्राप्त होता है और जो मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों से मिलता है, उससे मनुष्य को यह वृद्धिगत करता है। यह प्रधान रूप से 'अहं' भावना का प्रतीक होता हुआ भी व्यक्तिगत जीवन के विचार, इच्छा और कार्यों के सन्तुलन का भी प्रतीक है। विभिन्न प्रतीकों से मिलने पर यह नाना तरह से जीवन के रहस्यों को अभिव्यक्त करता है। उच्च स्थान अर्थात् तुला राशि का शनि विचार और भावों की समानता का द्योतक है।

अनात्मिक दृष्टिकोण से—कृषक, हलवाहक, पत्रवाहक, चरवाहा, कुम्हार, माली, मठाधीश, कृपण, पुलिस अफ़सर, उपवास करनेवाले साधु-संन्यासी आदि व्यक्ति तथा पहाड़ी स्थान, चट्टानी प्रदेश, बंजर भूमि, गुफा, प्राचीन ध्वंस स्थान, श्मशानघाट, क़ब्रस्थान एवं चौरस मैदान आदि का प्रतिनिधि है।

आत्मिक दृष्टि से—तात्त्विकज्ञान, विचार-स्वातन्त्र्य, नायकत्व, मननशीलता, कार्यपरायणता, आत्मसंयम, धैर्य, दृढ़ता, गम्भीरता, चारित्रशुद्धि, सतर्कता, विचारशीलता एवं कार्यक्षमता का प्रतीक है।

शारीरिक दृष्टि से—हड्डियाँ, नीचे के दाँत, बड़ी आँतें एवं मांसपेशियों पर प्रभाव डालता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सौर-जगत् के सात ग्रह मानव-जीवन के विभिन्न

अवयवों के प्रतीक हैं। इन सातों की क्रिया—फल द्वारा ही जीवन का संचालन होता है। प्रधान सूर्य और चन्द्रमा बौद्धिक और शारीरिक उन्नति-अवनति के प्रतीक माने गये हैं। पूर्वोक्त जीवन के विभिन्न अवयवों के प्रतीक ग्रहों का क्रम दोनों व्यक्तित्वों के तृतीय, द्वितीय, प्रथम और अन्तःकरण के प्रतीकों के अनुसार है अर्थात् आन्तरिक व्यक्तित्व के तृतीय रूप का प्रतीक सूर्य, बाह्य व्यक्तित्व के द्वितीय रूप का प्रतीक चन्द्रमा, बाह्य व्यक्तित्व के द्वितीय रूप का प्रतीक मंगल, आन्तरिक व्यक्तित्व के द्वितीय रूप का प्रतीक बुध, बाह्य व्यक्तित्व के प्रथम रूप का प्रतीक बृहस्पति, आन्तरिक व्यक्तित्व के प्रथम रूप का प्रतीक शुक्र एवं अन्तःकरण का प्रतीक शनि; इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि इन सातों ग्रहों का क्रम सिद्ध होता है। अतः स्पष्ट है कि मानव जीवन के साथ ग्रहों का अभिन्न सम्बन्ध है।

आचार्य वराहमिहिर के सिद्धान्तों को मनन करने से ज्ञात होगा कि शरीरचक्र ही ग्रह-कक्षावृत्त है। इस कक्षावृत्त के द्वादश भाग मस्तक, मुख, वक्षस्थल, हृदय, उदर, कटि, वस्ति, लिंग, जंघा, घुटना, पिण्डली और पैर क्रमशः मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन संज्ञक हैं। इन बारह राशियों में भ्रमण करनेवाले ग्रहों में आत्मा रवि, मन चन्द्रमा, धैर्य मंगल, वाणी बुध, विवेक गुरु, वीर्य शुक्र और संवेदन शनि है। तात्पर्य यह है कि वराहमिहिराचार्य ने सात ग्रह और बारह राशियों की स्थिति देहधारी प्राणी के भीतर ही बतलायी है। इस शरीर स्थित सौरचक्र का भ्रमण आकाशस्थित सौर-मण्डल के नियमों के आधार पर ही होता है। ज्योतिषशास्त्र व्यक्त सौर-जगत् के ग्रहों की गति, स्थिति आदि के अनुसार अव्यक्त शरीर स्थित सौर-जगत् के ग्रहों की गति, स्थिति आदि को प्रकट करता है। इसीलिए इस शास्त्र द्वारा निरूपित फलों का मानव जीवन से सम्बन्ध है।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रयोगशालाओं के अभाव में भी अपने दिव्य योगबल द्वारा आभ्यन्तर सौर-जगत् का पूर्ण दर्शन कर आकाशमण्डलीय सौर-जगत् के नियम निर्धारित किये थे, उन्होंने अपने शरीरस्थित सूर्य की गति से ही आकाशीय सूर्य की गति निश्चित की थी। इसी कारण ज्योतिष के फलाफल का विवेचन आज भी विज्ञानसम्मत माना जाता है।

भारतीय ज्योतिष का रहस्य

यद्यपि 'मानव-जीवन' और 'भारतीय ज्योतिष' इस प्रकरण से ही भारतीय ज्योतिष के रहस्य का आभास मिल जाता है, परन्तु तो भी इस विषय पर स्वतन्त्र विचार करना आवश्यक है। प्रायः समस्त भारतीय विज्ञान का लक्ष्य एकमात्र अपनी आत्मा का विकास कर उसे परमात्मा में मिला देना या तत्तुल्य बना लेना है। दर्शन या विज्ञान सभी का ध्येय विश्व की गूढ़ पहेली को सुलझाना है। ज्योतिष भी विज्ञान होने के कारण इस अखिल ब्रह्माण्ड के रहस्य को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

यद्यपि आत्मा के स्वरूप का स्पष्टीकरण करना योग या दर्शन का विषय है; लेकिन ज्योतिषशास्त्र भी इस विषय से अपने को अछूता नहीं रखता। भारत की प्रमुख विशेषता आत्मा की श्रेष्ठता है। इस प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए सभी दार्शनिक या वैज्ञानिक अपने अनुभवों की थैली बिना खोले नहीं रह सकते। फलतः दर्शन के समान ज्योतिष ने भी आत्मा के श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर गणित के प्रतीकों द्वारा जोर दिया है। यों तो स्पष्ट रूप से ज्योतिष में आत्मसाक्षात्कार के उक्त साधनों का कथन नहीं मिलेगा, लेकिन प्रतीकों से उक्त विषय सहज में हृदयगम्य किये जा सकते हैं। प्रायः देखा भी जाता है कि उत्कृष्ट आत्मज्ञानी ज्योतिष रहस्य का वेत्ता अवश्य होता है। प्राचीन या अर्वाचीन युग में दर्शनशास्त्र से अपरिचित व्यक्ति ज्योतिर्विद् के पद पर आसीन होने का अधिकारी नहीं माना गया है।

ज्योतिषशास्त्र का अन्य नाम ज्योतिःशास्त्र भी आता है, जिसका अर्थ प्रकाश देनेवाला या प्रकाश के सम्बन्ध में बतलानेवाला शास्त्र होता है; अर्थात् जिस शास्त्र से संसार का मर्म, जीवन-मरण का रहस्य और जीवन के सुख-दुख के सम्बन्ध में पूर्ण प्रकाश मिले वह ज्योतिषशास्त्र है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन करते हुए बताया है कि, "मनुष्य का वर्तमान जीवन उनके पूर्व-संकल्पों और कामनाओं का परिणाम है तथा इस जीवन में वह जैसा संकल्प करता है, वैसा ही यहाँ से जाने पर बन जाता है। अतएव पूर्ण प्राणमय, मनोमय, प्रकाशरूप एवं समस्त कामनाओं और विषयों के अधिष्ठानभूत ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए।"[1] इससे स्पष्ट है कि ज्योतिष के तत्त्वों के आधार पर वर्तमान जीवन का निर्माण कर प्रकाशरूप—ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है।

स्मरण रखने की बात यह है कि मानव जीवन नियमित सरल रेखा की गति से नहीं चलता, बल्कि इसपर विश्वजनीन कार्यकलापों के घात-प्रतिघात लगा करते हैं। सरल रेखा की गति से गमन करने पर जीवन की विशेषता भी चली जायेगी; क्योंकि जबतक जगत् के व्यापारों का प्रवाह जीवन रेखा को धक्का देकर आगे नहीं बढ़ाता अथवा पीछे लौटकर उसका ह्रास नहीं करता तबतक जीवन की दृढ़ता प्रकट नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि सुख और दुख के भाव ही मानव को गतिशील बनाते हैं, इन भावों की उत्पत्ति बाह्य और आन्तरिक जगत् की संवेदनाओं से होती है। इसीलिए मानव जीवन अनेक समस्याओं का सन्दोह और उन्नति-अवनति, आत्मविकास और ह्रास के विभिन्न रहस्यों का पिटारा है। ज्योतिषशास्त्र आत्मिक, अनात्मिक भावों और रहस्यों को व्यक्त करने के साथ-साथ उपर्युक्त सन्दोह और पिटारे का प्रत्यक्षीकरण कर देता है। भारतीय ज्योतिष का रहस्य इसी कारण अतिगूढ़ हो गया है। जीवन के

१. मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः।—छान्दो. ३।१४।

आलोच्य सभी विषयों का इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय बनना ही इस बात का साक्षी है कि यह जीवन का विश्लेषण करनेवाला शास्त्र है।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र के निर्माताओं के व्यावहारिक एवं पारमार्थिक ये दो लक्ष्य रहे हैं। प्रथम दृष्टि से इस शास्त्र का रहस्य गणना करना तथा दिक्, देश एवं काल के सम्बन्ध में मानव समाज को परिज्ञान कराना कहा जा सकता है। प्राकृतिक पदार्थों के अणु-अणु का परिशीलन एवं विश्लेषण करना भी इस शास्त्र का लक्ष्य है। सांसारिक समस्त व्यापार दिक्, देश और काल इन तीन के सम्बन्ध से ही परिचालित हैं, इन तीन के ज्ञान बिना व्यावहारिक जीवन की कोई भी क्रिया सम्यक् प्रकार सम्पादित नहीं की जा सकती है। अतएव सुचारु रूप से दैनन्दिन कार्यों का संचालन करना ज्योतिष का व्यावहारिक उद्देश्य है। इस शास्त्र में काल—समय को पुरुष—ब्रह्म माना है और ग्रहों की रश्मियों के स्थितिवश इस पुरुष के उत्तम, मध्यम, उदासीन एवं अधम ये चार अंग विभाग किये हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति के द्वारा निर्मित समस्त जगत् सत्त्व, रज और तमोमय है। जिन ग्रहों में सत्त्वगुण अधिक रहता है उनकी किरणें अमृतमय; जिनमें रजोगुण अधिक रहता है उनकी अभयगुण मिश्रित किरणें; जिनमें तमोगुण अधिक रहता है उनकी विषमय किरणें एवं जिनमें तीनों गुणों की अल्पता रहती है उनकी गुणहीन किरणें मानी गयी हैं। ग्रहों के शुभाशुभत्व का विभाजन भी इन किरणों के गुणों से ही हुआ है। आकाश में प्रतिक्षण अमृत रश्मि सौम्य ग्रह अपनी गति से जहाँ-जहाँ जाते हैं, उनकी किरणें भूमण्डल के उन-उन प्रदेशों पर पड़कर वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य, बुद्धि आदि पर अपना सौम्य प्रभाव डालती हैं। विषमय किरणोंवाले क्रूर-ग्रह अपनी गति से जहाँ गमन करते हैं, वहाँ वे अपने दुष्प्रभाव से वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य और बुद्धि पर अपना बुरा प्रभाव डालते हैं। मिश्रित रश्मि ग्रहों के प्रभाव मिश्रित एवं गुणहीन रश्मियों के ग्रहों का प्रभाव अकिंचित्कर होता है।

उत्पत्ति के समय जिन-जिन रश्मिवाले ग्रहों की प्रधानता होती है, जातक का स्वभाव वैसा ही बन जाता है। प्रसिद्धि भी है—

एते ग्रहा बलिष्ठाः प्रसूतिकाले नृणां स्वमूर्तिसमम् ।
कुर्युर्देहं नियतं बहवश्च समागता मिश्रम् ॥

अतएव स्पष्ट है कि संसार की प्रत्येक वस्तु आन्दोलित अवस्था में रहती है और हर वस्तु पर ग्रहों का प्रभाव पड़ता रहता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चारों वर्णों की उत्पत्ति भी ग्रहों के सम्बन्ध से ही होती है। जिन व्यक्तियों का जन्म कालपुरुष के उत्तमांग—अमृतमय रश्मियों के प्रभाव से होता है वे पूर्णबुद्धि, सत्यवादी, अप्रमादी, स्वाध्यायशील, जितेन्द्रिय, मनस्वी एवं सच्चरित्र होते हैं, अतएव ब्राह्मण; जिनका जन्मकाल पुरुष के मध्यमांग—रजोगुणाधिक्य मिश्रित रश्मियों के प्रभाव से होता है वे मध्य बुद्धि, तेजस्वी, शूरवीर, प्रतापी,

निर्भय, स्वाध्यायशील, साधु-अनुग्राहक एवं दुष्टनिग्राहक होते हैं, अतएव क्षत्रिय; जिनका जन्म उदासीन अंग—गुणत्रय की अल्पतावाली ग्रह-रश्मियों के प्रभाव से होता है वे उदासीन बुद्धि, व्यवसायकुशल, पुरुषार्थी, स्वाध्यायरत एवं सम्पत्तिशाली होते हैं, अतएव वैश्य एवं जिनका जन्म अधमांग—तमोगुणाधिक्य रश्मिवाले ग्रहों के प्रभाव से होता है वे विवेकशून्य, दुर्बुद्धि, व्यसनी, सेवावृत्ति एवं हीनाचरणवाले होते हैं अतएव शूद्र बताये गये हैं। ज्योतिष की यह वर्णव्यवस्था वंशपरम्परा से आगत वर्णव्यवस्था से भिन्न है, क्योंकि हीन वर्ण में भी जन्मा व्यक्ति ग्रहों की रश्मियों के प्रभाव से उच्च वर्ण का हो सकता है।

भारतीय ज्योतिर्विदों का अभिमत है कि मानव जिस नक्षत्र-ग्रह वातावरण के तत्त्वप्रभाव विशेष में उत्पन्न एवं पोषित होता है, उसमें उसी तत्त्व की विशेषता रहती है। ग्रहों की स्थिति की विलक्षणता के कारण अन्य तत्त्वों का न्यूनाधिक प्रभाव होता है। देशकृत ग्रहों का संस्कार इस बात का द्योतक है कि स्थान-विशेष के वातावरण में उत्पन्न एवं पुष्ट होनेवाला प्राणी उस स्थान पर पड़नेवाली ग्रह-रश्मियों की अपनी निजी विशेषता के कारण अन्य स्थान पर उसी क्षण जन्मे व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न स्वभाव, भिन्न आकृति एवं विलक्षण शरीरावयववाला होता है। ग्रह-रश्मियों का प्रभाव केवल मानव पर ही नहीं, बल्कि वन्य, स्थलज एवं उद्भिज्ज आदि पर भी अवश्य पड़ता है। ज्योतिषशास्त्र में मुहूर्त—समय-विधान की जो मर्म-प्रधान व्यवस्था है, उसका रहस्य इतना ही है कि गगनगामी ग्रह-नक्षत्रों की अमृत, विष एवं उभय गुणवाली रश्मियों का प्रभाव सदा एक-सा नहीं रहता। गति की विलक्षणता के कारण किसी समय में ऐसे नक्षत्र या ग्रहों का वातावरण रहता है, जो अपने गुण और तत्त्वों की विशेषता के कारण किसी विशेष कार्य की सिद्धि के लिए ही उपयुक्त हो सकते हैं। अतएव विभिन्न कार्यों के लिए मुहूर्तशोधन अन्धश्रद्धा या विश्वास की चीज नहीं है, किन्तु विज्ञानसम्मत रहस्यपूर्ण है। हाँ, कुशल परीक्षक के अभाव में इन चीजों की परिणाम-विषमता दिखलाई पड़ सकती है।

ग्रहों के अनिष्ट प्रभाव को दूर करने के लिए जो रत्न धारण करने की परिपाटी ज्योतिषशास्त्र में प्रचलित है, निरर्थक नहीं है। इसके पीछे भी विज्ञान का रहस्य छिपा है। प्रायः सभी लोग इस बात से परिचित हैं कि सौरमण्डलीय वातावरण का प्रभाव पाषाणों के रंग-रूप, आकार-प्रकार एवं पृथिवी, जल, अग्नि आदि तत्त्वों में से किसी तत्त्व की प्रधानता पर पड़ता है। समगुणवाली रश्मियों के ग्रहों से पुष्ट और संचालित व्यक्ति को वैसी ही रश्मियों के वातावरण में उत्पन्न रत्न धारण कराया जाये तो वह उचित परिणाम देता है। प्रतिकूल प्रभाव के मानव को विपरीत स्वभावोत्पन्न रत्न धारण करा दिया जाये तो वह उसके लिए विषम हो जायेगा। स्वभावानुरूप रश्मि प्रभाव परीक्षण के पश्चात् सात्त्विक साम्य हो जाने पर रत्न सहज में लाभप्रद हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि ग्रहों के जिन तत्त्वों के प्रभाव से जो रत्न-विशेष प्रभावित है, उसका प्रयोग उस ग्रह के तत्त्व के अभाव में उत्पन्न मनुष्य पर किया जाये तो वह अवश्य ही उस व्यक्ति को उचित शक्ति देनेवाला होगा। कृष्ण पक्ष में उत्पन्न जिन व्यक्तियों को चन्द्रमा का अरिष्ट होता है अर्थात् जिन्हें चन्द्रबल या चन्द्रमा की अमृत रश्मियों की शक्ति उपलब्ध नहीं होती है; उनके शरीर में कैल्शियम—चूने की अल्पता रहती है। ऐसी अवस्था में उक्त कमी को पूरा करने के लिए चन्द्रप्रभावजन्य मौक्तिक मणि अथवा चन्द्रकान्त का प्रयोग लाभकारी होता है। ज्योतिषी चन्द्रमा के कष्ट से पीड़ित व्यक्ति को इसी कारण मुक्ता धारण करने का निर्देश करते हैं। अनुभवी ज्योतिर्विद् ग्रहों की गति से ही शारीरिक और मानसिक विकारों का अनुमान कर लेते हैं। अतएव सिद्ध है कि ग्रहों की रश्मियों का प्रभाव संसार के समस्त पदार्थों पर पड़ता है; ज्योतिष शास्त्र इस प्रभाव का विश्लेषण करता है।

भारतीय ज्योतिष के लौकिक पक्ष में एक रहस्यपूर्ण बात यह है कि ग्रह फलाफल के नियामक नहीं हैं, किन्तु सूचक हैं। अर्थात् ग्रह किसी को सुख-दुख नहीं देते, बल्कि आनेवाले सुख-दुख की सूचना देते हैं। यद्यपि यह पहले कहा गया है कि ग्रहों की रश्मियों का प्रभाव पड़ता है, पर यहाँ इसका सदा स्मरण रखना होगा कि विपरीत वातावरण के होने पर रश्मियों के प्रभाव को अन्यथा भी सिद्ध किया जा सकता है। जैसे अग्नि का स्वभाव जलाने का है, पर जब चन्द्रकान्तमणि हाथ में ले ली जाती है, तो वही अग्नि जलाने के कार्य को नहीं करती, उसकी दाहक शक्ति चन्द्रकान्त के प्रभाव से क्षीण हो जाती है। इसी प्रकार ग्रहों की रश्मियों के अनुकूल और प्रतिकूल वातावरण का प्रभाव अनुकूल या प्रतिकूल रूप से अवश्य पड़ता है। आज के कृत्रिम जीवन में ग्रह-रश्मियाँ अपना प्रभाव डालने में प्रायः असमर्थ रहती हैं। भारतीय दर्शन या अध्यात्मशास्त्र का यह सिद्धान्त भी उपेक्षणीय नहीं कि अर्जित संस्कार ही प्राणी के सुख-दुख, जीवन-मरण, विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति प्रभृति के कारण हैं। संस्कारों का अर्जन सर्वदा होता रहता है। पूर्व संचित संस्कारों को वर्तमान संचित संस्कारों से प्रभावित होना पड़ता है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने पूर्वोपार्जित अदृष्ट के साथ-साथ वर्तमान में जो अच्छे या बुरे कार्य कर रहा है, उन कार्यों का प्रभाव उसके पूर्वोपार्जित अदृष्ट पर अवश्य पड़ता है। हाँ, कुछ कर्म ऐसे भी मजबूत हो सकते हैं जिनके ऊपर इस जन्म में किये गये कृत्यों का प्रभाव नहीं भी पड़ता है। उदाहरण के लिए एक कोष्ठबद्धता के रोगी को लिया जा सकता है। परीक्षा के बाद इस रोगी से डॉक्टर ने कहा कि तुम्हारी कोष्ठबद्धता दस दिन के उपवास करने पर ही ठीक हो सकती है। यदि इस रोगी को उपवास न करा के विरेचन की दवा दे दी जाये तो वह दूसरे दिन ही मल के निकल जाने पर तन्दुरुस्त हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वोपार्जित कर्मों की स्थिति और उनकी शक्ति को इस जन्म के कृत्यों के द्वारा सुधारा जा सकता है।

अतएव ज्योतिष का प्रधान उपयोग यही है कि ग्रहों के स्वभाव और गुणों द्वारा अन्वय, व्यतिरेक रूप कार्यकारणजन्य अनुमान से अपने भावी सुख-दुख प्रभृति को पहले से अवगत कर अपने कार्यों में सजग रहना चाहिए; जिससे आगामी दुख को सुखरूप में परिणत किया जा सके। यदि ग्रहों का फल अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़े, पुरुषार्थ को व्यर्थ मानें तो फिर इस जीव को कभी मुक्तिलाभ हो ही नहीं सकेगा। मेरी तो दृढ़ धारणा है कि जहाँ पुरुषार्थ प्रबल होता है, वहाँ अदृष्ट को टाला जा सकता है अथवा न्यून रूप में किया जा सकता है। कहीं-कहीं पुरुषार्थ अदृष्ट को पुष्ट करनेवाला भी होता है। लेकिन जहाँ अदृष्ट अत्यन्त प्रबल होता है और पुरुषार्थ न्यून रूप में किया जाता है, वहाँ अदृष्ट की अपेक्षा पुरुषार्थ हीन पड़ जाने के कारण अदृष्टजन्य फलाफल अवश्य भोगने पड़ते हैं। अतएव यह निश्चित है कि यदि शास्त्र केवल आगामी शुभाशुभों की सूचना देनेवाला है; क्योंकि ग्रहों की गति के कारण उनकी विष एवं अमृत रश्मियों की सूचना मिल जाती है। इस सूचना का यदि सदुपयोग किया जाये तो फिर ग्रहों के फलों का परिवर्तन करना कैसे असम्भव माना जा सकेगा? इसलिए यह ध्रुव सत्य है कि ज्योतिष सूचक शास्त्र है विधायक नहीं। लौकिक दृष्टि से इस शास्त्र का सबसे बड़ा यही रहस्य है।

भारतीय ज्योतिष के रहस्य को यदि एक शब्द में व्यक्त किया जाये तो यही कहा जायेगा कि चिरन्तन और जीवन से सम्बद्ध सत्य का विश्लेषण करना ही इस शास्त्र का आभ्यन्तरिक मर्म है। संसार के समस्त शास्त्र जगत् के एक-एक अंश का निरूपण करते हैं, पर ज्योतिष आन्तरिक एवं बाह्य जगत् से सम्बद्ध समस्त ज्ञेयों का प्रतिपादन करता है। इसका सत्य दर्शन के समान जीव और ईश्वर से ही सम्बद्ध नहीं है, किन्तु उससे आगे का भाग है। दार्शनिकों ने निरंश परमाणु को मानकर अपनी चर्चा का वहीं अन्त कर दिया, पर ज्योतिर्विदों ने इस निरंश को भी गणित द्वारा सांश सिद्ध कर अपनी सूक्ष्मता का परिचय दिया है। कमलाकर भट्ट ने दार्शनिकों द्वारा अभिमत निरंश परमाणु पद्धति का ज़ोरदार खण्डन कर सत्य को कल्पना से परे की वस्तु बतलाया है। यद्यपि ज्योतिष का सत्य जीवन और जगत् से सम्बद्ध है, किन्तु अतीन्द्रिय है।

इन्द्रियों द्वारा होनेवाला ज्ञान अपूर्ण होने के कारण कदाचित् ज्ञानान्तर से बाधित हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि इन्द्रियज्ञान अव्यवहित ज्ञान नहीं है, इसी से इन्द्रियानुभूति में भेद का होना सम्भव है। ज्योतिष का ज्ञान आगम ज्ञान होते हुए भी अतीन्द्रिय ज्ञान के तुल्य सत्य के निकट पहुँचानेवाला है। इसके द्वारा मन की विविध प्रवृत्तियों का विश्लेषण जीवन की अनेक समस्याओं के समाधान को करता है। चित्तविश्लेषण शास्त्र फलित ज्योतिष का एक भेद है। फलितांग जहाँ अनेक जीवन के तत्त्वों की व्याख्या करता है, वहाँ मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण भी। यद्यपि यह विश्लेषण साहित्य और मनोविज्ञान के विश्लेषण से भिन्न होता है, पर इसके द्वारा मानव जीवन के अनेक

रहस्यों एवं भेद को अवगत किया जा सकता है।

मानव के समक्ष जहाँ दर्शन नैराश्यवाद की धूमिल रेखा अंकित करता है, वहाँ ज्योतिष कर्तव्य के क्षेत्र में ला उपस्थित करता है। भविष्य को अवगत कर अपने कर्तव्यों द्वारा उसे अपने अनुकूल बनाने के लिए ज्योतिष प्रेरणा करता है। यही प्रेरणा प्राणियों के लिए दुखविघातक और पुरुषार्थसाधक होती है।

पारमार्थिक दृष्टि से परिशीलन करने पर भारतीय ज्योतिष का रहस्य परम ब्रह्म को प्राप्त करना है। यद्यपि ज्योतिष तर्कशास्त्र है, इसका प्रत्येक सिद्धान्त सहेतुक बताया गया है; पर तो भी इसकी नींव पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इसकी समस्त क्रियाएँ बिन्दु—शून्य के आधार पर चलती हैं, जो कि निर्गुण, निराकार ब्रह्म का प्रतीक है। बिन्दु दैर्घ्य और विस्तार से रहित अस्तित्ववाला माना गया है। यद्यपि परिभाषा की दृष्टि से स्थूल है, पर वास्तव में वह अत्यन्त सूक्ष्म, कल्पनातीत, निराकार वस्तु है। केवल व्यवहार चलाने के लिए हम उसे काग़ज़ या स्लेट पर अंकित कर लेते हैं। आगे चलकर यही बिन्दु गतिशील होता हुआ रेखा-रूप में परिवर्तित होता है अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्म से 'एकोऽहं बहु स्याम' कामना रूप उपाधि के कारण माया का आविर्भाव हुआ है, उसी प्रकार बिन्दु से एक गुण—दैर्घ्यवाली रेखा उत्पन्न हुई है। अभिप्राय यह है कि भारतीय ज्योतिष में बिन्दु ब्रह्म का प्रतीक और रेखा माया का प्रतीक है। इन दोनों के संयोग से ही क्षेत्रात्मक, बीजात्मक एवं अंकात्मक गणित का निर्माण हुआ है। भारतीय ज्योतिष का प्राण यही गणितशास्त्र है।

अनेक भारतीय दार्शनिकों ने रेखागणित और बीजगणित की क्रियाओं का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण किया है। बीजगणित के समीकरण सिद्धान्त में अलीकमिश्रण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अध्यारोप और अपवाद विधि से ब्रह्म के स्वरूप को—अध्यारोप निष्प्रपंच ब्रह्म में जगत् का आरोप कर देना है और अपवाद विधि से आरोपित वस्तु का पृथक्-पृथक् निराकरण करना होता है, इसी से उसके स्वरूप को ज्ञात कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रथमतः आत्मा के ऊपर शरीर का आरोप कर दिया जाता है, पश्चात् साधना द्वारा आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंचकोशों एवं स्थूल और सूक्ष्म कारण शरीरों से पृथक् कर उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण—$क^{२} + २क = ३५$, यहाँ अज्ञात राशि का मूल्य निकालने के लिए दोनों में और कुछ जोड़ दिया जाये तो अज्ञात राशि का मूल्य ज्ञात हो जायेगा। अतएव यहाँ एक संख्या जोड़ दी तो—$क^{२} + २क + १ = ३५ + १ = (क + १)^{२} = (६)$ $\because$ $क + १ = ६$ $\therefore$ $(क + १) - १ = ६ - १$ $\therefore$ $क = ५$; इस उदाहरण में पहले जो एक जोड़ा गया था, अन्त में उसी को निकाल दिया। इसी प्रकार जिस शरीर का आत्मा के ऊपर आरोप किया था, अपवाद द्वारा उसी शरीर को पृथक् कर दिया जाता है। इसी प्रकार दर्शन के प्रकाश में बीजगणित के सारे सिद्धान्त आध्यात्मिक दिखलाई पड़ेंगे।

श्रद्धेय डॉ. भगवानदास जी[1] ने रेखागणित की प्रथम प्रतिज्ञा का विश्लेषण करते हुए कहा है कि यहाँ दो वृत्तों का आपस में जो सम्बन्ध बताया गया है, वह असीम, अनादि, अनन्त पुरुष और प्रकृति के अभेद्य सम्बन्ध का द्योतक है। लेकिन यहाँ अभेद्य सम्बन्ध ऐसा है जिससे इनका पृथक् होना भी सिद्ध है। इनके बीच रहनेवाला त्रिभुज मन, इन्द्रिय और शरीर अथवा सत्त्व, रजस् और तमोगुण से विशिष्ट प्राणी का प्रतीक है। इसी कारण डॉक्टर सा. ने लिखा है कि "मैथेमैटिक्स—गणित का सच्चा रहस्य भी तभी खुलेगा जब वह गुप्त-लुप्त अंश के प्रकाश में जाँची और जानी जायेगी।"

ज्योतिषशास्त्र में प्रधान ग्रह सूर्य और चन्द्र माने गये हैं। सूर्य को पुरुष और चन्द्रमा को स्त्री अर्थात् पुरुष और प्रकृति के रूप में इन दोनों ग्रहों को माना है। पाँच तत्त्व रूप भौम, बुध, गुरु, शुक्र एवं शनि बताये गये हैं। इन प्रकृति, पुरुष और तत्त्वों के सम्बन्ध से ही सारा ज्योतिश्चक्र भ्रमण करता है। अतएव संक्षेप में ही कहा जा सकता है कि पारमार्थिक दृष्टि से भारतीय ज्योतिषशास्त्र अध्यात्मशास्त्र है।

ज्योतिष की उपयोगिता

मनुष्य के समस्त कार्य ज्योतिष के द्वारा ही चलते हैं। व्यवहार के लिए अत्यन्त उपयोगी दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, अयन, ऋतु, वर्ष एवं उत्सवतिथि आदि का परिज्ञान इसी शास्त्र से होता है। यदि मानव-समाज को इसका ज्ञान न हो तो धार्मिक उत्सव, सामाजिक त्यौहार, महापुरुषों के जन्मदिन, अपनी प्राचीन-गौरव-गाथा का इतिहास प्रभृति किसी भी बात का ठीक-ठीक पता न लग सकेगा और न कोई उचित कृत्य ही यथासमय सम्पन्न किया जा सकेगा। शिक्षित या सभ्य समाज की तो बात ही क्या, भारतीय अपढ़ कृषक भी व्यवहारोपयोगी ज्योतिष ज्ञान से परिचित है; वह भलीभाँति जानता है किस नक्षत्र में वर्षा अच्छी होती है, अतः कब बोना चाहिए जिससे फ़सल अच्छी हो। यदि कृषक ज्योतिषशास्त्र के उपयोगी तत्त्वों को न जानता तो उसका अधिकांश श्रम निष्फल जाता।

कुछ महानुभाव यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि आज के वैज्ञानिक युग में कृषिशास्त्र के मर्मज्ञ असमय में ही आवश्यकतानुसार वर्षा का आयोजन या निवारण कर कृषि कर्म को सम्पन्न कर लेते हैं; इस दशा में कृषक के लिए ज्योतिष ज्ञान की आवश्यकता नहीं। पर उन्हें यह भूलना न चाहिए कि आज का विज्ञान भी प्राचीन ज्योतिष का एक लघु शिष्य है। ज्योतिषशास्त्र के तत्त्वों से पूर्णतया परिचित हुए बिना विज्ञान भी असमय में वर्षा का आयोजन और निवारण नहीं कर सकता है। वास्तविक बात यह है कि चन्द्रमा जिस समय जलचर राशि और जलचर नक्षत्रों पर रहता है, उसी समय वर्षा होती है। वैज्ञानिक प्रकृति के रहस्य को ज्ञात कर जब चन्द्रमा जलचर

---

१. देखें, दर्शन का प्रयोजन : पृ. ७१।

नक्षत्रों का भोग करता है, वृष्टि का आयोजन कर लेता है। वराहीसंहिता में भी कुछ ऐसे सिद्धान्त आये हैं जिनके द्वारा जलचर चान्द्र नक्षत्रों के दिनों में वर्षा का आयोजन किया जा सकता है। प्राचीन मन्त्रशास्त्र में जो वृष्टि के आयोजन और निवारण की प्रक्रिया बतायी गयी है, उसमें जलचर नक्षत्रों को आलोडित करने का विधान है। सारांश यह है कि वैज्ञानिक जलचर चन्द्रमा के तत्त्वों को ज्ञात कर जलचर नक्षत्रों के दिनों में उन तत्त्वों का संयोजन कर असमय में वृष्टि कार्य को कर लेता है। इसी प्रकार वृष्टि का निवारण जलचर चन्द्रमा के जलीय परमाणुओं के विघटन द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। प्राचीन ज्योतिष के अनन्यतम अंग संहिताशास्त्र में इस प्रकार की चर्चाएँ भी आयी हैं। भद्रबाहु संहिता के शुक्रचार अध्याय में शुक्र की गति के अध्ययन द्वारा वृष्टि का निवारण किया गया है। अतएव यह मानना पड़ेगा कि ज्योतिष तत्त्वों की जानकारी के बिना कृषिकर्म सम्यक्तया सम्पन्न करना सम्भव नहीं।

जहाज के कप्तान को ज्योतिष की नित्य बड़ी आवश्यकता होती है; क्योंकि वे ज्योतिष के द्वारा ही समुद्र में जहाज की स्थिति का पता लगाते हैं। घड़ी के अभाव में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों के पिण्डों को देखकर आसानी से समय का पता लगाया जा सकता है। ज्योतिष-ज्ञान के अभाव में लम्बी यात्रा तय करना निरापद नहीं है, क्योंकि ज्योतिष-ज्ञान के द्वारा ही नये देशों और रेगिस्तानों में रास्ता निकाला जा सकता है तथा अक्षांश और देशान्तर के द्वारा उस स्थान की स्थिति और उसकी दिशा आदि का निर्णय किया जाता है। जहाँ की सीमा पैमायश द्वारा निश्चित नहीं की जा सकती है, वहाँ ज्योतिष के द्वारा प्रतिपादित अक्षांश और देशान्तर के आधार पर सीमाएँ निश्चित की गयी हैं। भूगोल का अध्ययन तो इस शास्त्र के ज्ञान के बिना अधूरा ही समझा जायेगा।

अन्वेषण कार्य को सम्पन्न करना भी ज्योतिष-ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। आज तक जितने भी नवीन अन्वेषक हुए हैं वे या तो स्वयं ज्योतिषी होते थे अथवा अपने साथ किसी ज्योतिषी को रखते थे। एक बार अमेरिका के एक विद्वान् ने कहा था कि ग्रह-नक्षत्रों के ज्ञान के बिना नवीन देश का पता लगाना सम्भव नहीं। जहाँ आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्र कार्य नहीं करते, अधिक गरमी या सर्दी के कारण उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है, वहाँ चन्द्र-सूर्यादि ग्रह-नक्षत्रों के ज्ञान द्वारा दिक्, देश का बोध सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

किसी उच्चतम पहाड़ की ऊँचाई और अति गम्भीर नदी की गहराई का ज्ञान ज्योतिषशास्त्र के द्वारा किया जा सकता है। शायद यहाँ यह शंका की जाये कि पहाड़ की ऊँचाई और नदी की गहराई का ज्ञान रेखागणित के द्वारा किया जाता है, ज्योतिष के द्वारा नहीं; पर गम्भीरता से विचार करने पर मालूम हो जायेगा कि रेखागणित ज्योतिष का अभिन्न अंग है। प्राचीन ज्योतिर्विदों ने रेखागणित के मुख्य सिद्धान्तों का निरूपण ईसवी सन् ५वीं और ६ठी शताब्दी में ही कर दिया है।

इतिहास को भी ज्योतिष ने बड़ी सहायता पहुँचायी है। जिन बातों की तिथि

का पता अन्य साधनों के द्वारा नहीं लग सकता है, ज्योतिष के द्वारा सहज में ही लगाया जा सकता है। यदि ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान नहीं होता तो वेद की प्राचीनता कदापि सिद्ध नहीं की जा सकती थी। श्रद्धेय लोकमान्य तिलक ने वेदों में प्रतिपादित नक्षत्र, अयन और ऋतु आदि के आधार पर ही वेदों का समय निर्धारित किया है। सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के आधार पर अनेक प्राचीन ऐतिहासिक तिथियाँ क्रम-बद्ध की जा सकती हैं।

भूगर्भ से प्राप्त विभिन्न वस्तुओं का काल ज्योतिषशास्त्र के द्वारा जितनी सरलता और प्रामाणिकता के साथ निश्चित किया जा सकता है उतना अन्य शास्त्रों के द्वारा नहीं। एक बार श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने बताया था कि पुरातत्त्व की वस्तुओं के यथार्थ समय को जानने के लिए ज्योतिष-ज्ञान की आवश्यकता है।

सृष्टि के रहस्य का पता भी ज्योतिष से ही लगता है। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में सृष्टि के रहस्य की छान-बीन करने के लिए ज्योतिषशास्त्र का उपयोग किया जा रहा है। इसी कारण सिद्धान्त ज्योतिष के ग्रन्थों में सृष्टि का विवेचन अवश्य रहता है। प्रकृति के अणु-अणु का रहस्य ज्योतिष में बताया गया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति सृष्टि के रहस्य को ज्ञात कर अपने कार्यों का सम्पादन कर सकता है। जड़-चेतन सभी पदार्थों की आयु, आकार-प्रकार, उपयोगिता एवं उनके भेद-प्रभेद का जितना सुन्दर विज्ञानसम्मत कथन इस शास्त्र में रहता है उतना अन्य में नहीं।

आयुर्वेद तो ज्योतिष का चचेरा भाई है। ज्योषितज्ञान के बिना औषधियों का निर्माण यथासमय सम्पन्न नहीं किया जा सकता। कारण स्पष्ट है कि ग्रहों के तत्त्व और स्वभाव को ज्ञात कर उन्हीं के अनुसार उसी तत्त्व और स्वभाववाली दवा का निर्माण करने से वह दवा विशेष गुणकारी होती है। जो भिषक् इस शास्त्र के ज्ञान से अपरिचित रहते हैं वे सुन्दर और अपूर्व गुणकारी दवाओं का निर्माण नहीं कर सकते।

एक अन्य बात यह है कि इस शास्त्र के ज्ञान द्वारा रोगी की चर्या और चेष्टा को अवगत कर बहुत कुछ अंशों में रोग की मर्यादा जानी जा सकती है। संवेगरंगशाला नामक ज्योतिष ग्रन्थ में रोगी की रोग-मर्यादा जानने के अनेक नियम आये हैं। अतएव जो चिकित्सक आवश्यक ज्योतिष तत्त्वों को जानकर चिकित्सा कर्म को सम्पन्न करता है, वह अपने इस कार्य में अधिक सफल होता है।

साधारण व्यक्ति भी इस शास्त्र के सम्यक् ज्ञान से अनेक रोगों से बच सकते हैं; क्योंकि अधिकांश रोग सूर्य और चन्द्रमा के विशेष प्रभावों से उत्पन्न होते हैं। फायलेरिया रोग चन्द्रमा के प्रभाव के कारण ही एकादशी और अमावस्या को बढ़ता है। ज्योतिर्विदों का अनुमान है कि जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्र के जल में उथल-पुथल मचा डालता है उसी प्रकार शरीर के रुधिर-प्रवाह में भी अपना प्रभाव डालकर निर्बल मनुष्यों को रोगी बना डालता है। अतएव ज्योतिष द्वारा चन्द्रमा के तत्त्वों को अवगत कर एकादशी और अमावस्या को वैसे तत्त्वोंवाले पदार्थों के सेवन से बचने पर फायले-

रिया रोग छूट जाता है तथा निर्बल मनुष्य रोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकता है।

इस शास्त्र की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि यह समस्त मानव-जीवन के प्रत्यक्ष और परोक्ष रहस्यों का विवेचन करता है और प्रतीकों द्वारा समस्त जीवन को प्रत्यक्ष रूप में उस प्रकार प्रकट करता है जिस प्रकार दीपक अन्धकार में रखी हुई वस्तु को दिखलाता है। मानव का व्यावहारिक कोई भी कार्य इस शास्त्र के ज्ञान बिना नहीं चल सकता है।

भारतीय ज्योतिष का कालवर्गीकरण

किसी भी शास्त्र या विज्ञान का सम्यक् अध्ययन करने के लिए उसका इतिहास जानना आवश्यक होता है; क्योंकि उस शास्त्र के इतिहास द्वारा तद्विषयक रहस्य समझ में आ जाता है। ज्योतिषशास्त्र सृष्टि और प्रकृति के रहस्य को व्यक्त करनेवाला है। मानव प्रकृति की पाठशाला में सदा से इस शास्त्र का अध्ययन करता चला आ रहा है, अतः इस शास्त्र के उद्भव स्थान और काल का निश्चित रूप से पता लगाना ज़रा टेढ़ी खीर है। चाहे अन्य ज्ञानों की निर्झरिणी के आदि स्रोत का पता लगाना सम्भव हो, पर प्रकृति के अनन्यतम अंग इस शास्त्र का छोर-पैड़ ढूँढ़ना मानव शक्ति से परे की बात है। अथवा दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जिस दिन से मानव ने होश सँभाला उसी दिन से उसने ज्योतिष के आवश्यक तत्त्वों का अध्ययन करना शुरू कर दिया। भले ही वह इन तत्त्वों को अभिव्यक्त करने की योग्यता के अभाव में दूसरों को न बता सका हो, पर उसका जीवन-निर्वाह इन तत्त्वों के बिना हो नहीं सकता था; फलतः मानव जीवन के विकास के साथ-साथ ज्योतिष का भी विकास हुआ।

कालवर्गीकरण की दृष्टि से इस शास्त्र के इतिहास को निम्न युगों में विभक्त किया जा सकता है—

अन्धकारकाल—ई. पू. १०००० वर्ष पहले का समय
उदयकाल—ई. पू. १००००—ई. पू. ५०० तक
आदिकाल—ई. पू. ४९९—ई. ५०० तक
पूर्वमध्यकाल—ई. ५०१—ई. १००० तक
उत्तरमध्यकाल—ई. १००१ – ई. १६०० तक
आधुनिककाल—ई. १६०१—ई. १९४६ तक

उपर्युक्त कालों का वर्गीकरण ज्योतिषशास्त्र के विकास के आधार पर किया गया है। यों तो भारतीय संस्कृत के इतिहास को भी उपर्युक्त वर्गों में विभक्त किया जाता है, लेकिन यहाँ पर ज्योतिष को अनादिनिधन मानते हुए भी अभिव्यंजन प्रणाली के विकास पर ही मुख्य दृष्टि रखी गयी है।

अन्धकारकाल (ई. पू. १०००० के पहले का समय)

यह पहले ही कहा जा चुका है कि ज्योतिषशास्त्र के जन्म का पता लगाना शक्तिगम्य नहीं है। यह मानव सृष्टि के समान अनादि है। ज्योतिष का सिद्धान्त है कि एक कल्पकाल में ४३२०००००००० वर्ष होते हैं, सृष्टि प्रारम्भ होते ही सभी ग्रह अपनी-अपनी कक्षा में नियमित रूप से भ्रमण करने लगते हैं। मानव सुदूर प्राचीन काल में सृष्टि के अनन्तर बहुत समय तक लिपि रूप भाषा शक्ति से रहित था। वह अपना काम चलाने के लिए केवल संकेतात्मक भाषा का ही प्रयोग करता था। विकासवाद बतलाता है कि आरम्भ में मनुष्य केवल नाद कर सकता था, इसी अस्पष्ट नाद द्वारा अपने सुख-दुख, हर्ष-पीड़ा आदि भाव प्रदर्शित करता था। जब अनुभव और अनुमान ने परस्पर एक-दूसरे की सहायता कर मानव जाति की विकसित परम्परा क़ायम कर दी तो सम्भाषण-शक्ति का आविर्भाव हुआ। नाद को निरन्तर उच्चारित कर विभिन्न भावों; विचारों और उनके भेदों को क्रमशः प्रदर्शित करने की चेष्टा की गयी। ज्ञानाभ्युदय के साथ-साथ नाद शक्ति भी वृद्धिगत होने लगी और धीरे-धीरे भावों के साथ इंगित, चेष्टा और व्यक्त नाद का आरम्भ हुआ। इसी बीच में अनुकरण की मात्रा ने प्रकृतिप्रदत्त भाव और विचारों के विनिमय में पर्याप्त योग दिया, जिससे मानव ने आज के समान सम्भाषण की योग्यता प्राप्त की।

यहाँ इतना और स्मरण रखना होगा कि सम्भाषण की भाषा के आविर्भूत होने पर लिपि की भाषा अभी प्राचीन मानव को अज्ञात थी। इस समय उसके सारे कार्य मौखिक ही चलते थे। वेद शब्द का अर्थ जो 'श्रुत' किया गया है वह भी इस बात का द्योतक है कि प्राचीन मानव का समस्त ज्ञान-भाण्डार मुखाग्र था, उसमें उसके लिपिबद्ध करने की क्षमता नहीं थी।

मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने पर अवगत होगा कि 'क्यों' और 'कैसे' ये दो जिज्ञासाएँ उसकी प्रधान हैं। वह प्रत्येक वस्तु के आदि कारण की खोज करता है और उसके सम्बन्ध में सभी अद्भुत बातों को जानने के लिए लालायित रहता है। जबतक उसकी यह ज्ञानपिपासा शान्त नहीं होती उसे चैन नहीं पड़ता। फलतः आदि मानव के मस्तिष्क में भी यत्किंचित् विकास के अनन्तर ही समय, दिशा और स्थान जिनके बिना उसका काम चलना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव था; के सम्बन्ध में क्यों और कैसे ये प्रश्न अवश्य उत्पन्न हुए होंगे तथा इन प्रश्नों के उत्तर पाने की भी उसने चेष्टा की होगी। यह निश्चित है कि किसी भी प्रकार के ज्ञान का स्रोत समय, दिशा और स्थान के ज्ञान के बिना प्रवाहित नहीं हो सकता है। इसलिए उक्त तीनों विषयों का ज्ञान ज्योतिष के द्वारा सम्पन्न होने पर ही अन्य विषयों का ज्ञान मानव को हुआ होगा।

भारत की अपनी निजी विशेषता आध्यात्मिक ज्ञान की है और इसका सम्पादन योग-क्रिया द्वारा प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार

महाकुण्डलिनी नाम की शक्ति समस्त सृष्टि में परिव्याप्त रहती है और व्यक्ति में यही शक्ति कुण्डलिनी के रूप में व्यक्त होती है। इसका विश्लेषण इस प्रकार समझना चाहिए कि पीठ में स्थित मेरुदण्ड सीधे जहाँ जाकर पायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता है, वहाँ त्रिकोण चक्र में स्वयम्भू लिंग स्थित है। इस चक्र का अन्य नाम अग्नि-चक्र भी बताया गया है। इस स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटे सर्प की तरह कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके अनन्तर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य और आज्ञा ये षट्चक्र क्रमशः ऊपर-ऊपर स्थित हैं। इन चक्रों को भेद करने के बाद मस्तक में शून्यचक्र है, जहाँ जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का चरम लक्ष्य होता है; इस स्थान पर सहस्रारचक्र होता है। प्राणवायु को वहन करनेवाली मेरुदण्ड से सम्बद्ध इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ हैं। इनमें इडा और पिंगला को सूर्य और चन्द्र भी कहा गया है। सुषुम्ना के भीतर वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मा ये तीन नाड़ियाँ कुण्डलिनी शक्ति का वास्तविक मार्ग हैं। साधक नाना प्रकार की साधनाओं द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध कर स्फोट—नाद करता है। इस नाद से सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूप प्रकाश होता है। इस प्रकार योगी लोग व्यक्ति के अन्दर रहनेवाली कुण्डलिनी को महाकुण्डलिनी में मिलाने का प्रयत्न करते हैं।

उपर्युक्त योग-ज्ञान केवल आध्यात्मिक ही नहीं, प्रत्युत ज्योतिषविषयक भी है। उक्त योगबल से भारतीयों ने अपने भीतर के रहनेवाले सौर-जगत् को पूर्णतया ज्ञात कर और उसकी तुलना निरीक्षण द्वारा आकाशमण्डलीय सौर-जगत् से कर अनेक ज्योतिष के सिद्धान्त निकाले, जो बहुत काल तक मौखिक रूप में अवस्थित रहे।

अनुभव भी बतलाता है कि मानव ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सबसे प्रथम स्थान, दिक् और काल इन तीन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की होगी। क्योंकि किसी से भी पूछा जाये कि अमुक वस्तु कहाँ स्थित है? तो वह यही उत्तर देगा कि अमुक दिशा में है। अमुक घटना कब घटी? तो वह यही कहेगा कि अमुक समय में। अभिप्राय यह है कि अमुक स्थान से इतना पूर्व, अमुक से इतना दक्षिण, इतने बजकर इतने मिनट पर अमुक कार्य हुआ, इतना बतला देने पर उस कार्य-विषयक स्वाभाविक जिज्ञासा शान्त हो जाती है। ज्योतिष द्वारा उक्त विषयों का ज्ञान प्राप्त करना ही साध्य माना गया है। इसलिए उदयकाल में जब ज्योतिष के सिद्धान्त लिपिबद्ध किये जा रहे थे, इसकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। स्थान एवं कालबोधक शास्त्र होने के कारण इसे जीवन का अभिन्न अंग बतलाया गया है।

यद्यपि अन्धकारयुग का ज्योतिष-विषयक साहित्य उपलब्ध नहीं है, पर तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उस काल का मानव दिन, रात, पक्ष, मास, अयन और वर्ष आदि कालांगों से पूर्ण परिचित था। इस जानकारी के साथ-साथ ही उसे काल को प्रकट करनेवाले चन्द्र, सूर्य का बोध भी अवश्य रहा होगा। लिखित प्रमाणों के अभाव में इस युग में आकाशमण्डल मानव की दृष्टि से ओझल रहा हो, यह मानने की बात

नहीं है। इस पृथ्वी पर जन्म लेते ही उसने अपनी चक्षुओं के द्वारा आकाश का रहस्य अवश्य ज्ञात किया होगा। प्राणिशास्त्र बतलाता है कि आदि मानव अपने योग और ज्ञान द्वारा, आयुर्वेद एवं ज्योतिषशास्त्र के मौलिक तत्त्वों को ज्ञात कर भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था।

अन्धकारकाल की ज्योतिष-विषयक मान्यताओं का पता उदयकाल और आदिकाल के साहित्य से भी लग जाता है। सर्वप्रथम यहाँ वैदिक मान्यता के आधार पर इस काल का समर्थन किया जायेगा।

वैदिक दर्शन में सृष्टि का सृजन और विनाश माना गया है। इसके अनुसार सृष्टि के बन जाने के अनन्तर ही मनुष्य ग्रह-नक्षत्रों का अध्ययन करना शुरू कर देता है और ज्योतिष के आवश्यक जीवनोपयोगी तत्त्वों को ज्ञात कर अपनी ज्ञानराशि की वृद्धि करता है। भाषा शक्ति भी जगन्नियन्ता द्वारा उसे प्राप्त हो जाती है तथा भाव और विचारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता भी साधारणतया आ जाती है। परन्तु इतनी विशेषता है कि अभिव्यंजना का विकास एकाएक नहीं होता, बल्कि धीरे-धीरे विकसित हो इसी प्रणाली से साहित्य का जन्म होता है।

जब से मनुष्य ने चिन्ता करना आरम्भ किया तभी से उसकी वाक्शक्ति, कल्पना और बुद्धि उसके रहस्योद्‌घाटन के लिए प्रवृत्त हुई है। शास्त्रों में बताया गया है कि परिदृश्यमान विश्व एक समय प्रगाढ़ अन्धकार से आच्छादित था। उस समय की अवस्था का पता लगाना कठिन है, किसी भी लक्षण द्वारा उसका अनुमान करना सम्भव नहीं। उस समय यह तर्क और ज्ञान से अतीत होकर प्रगाढ़ निद्रा में अभिभूत था। अनन्तर स्वयम्भू अव्यक्त भगवान् महाभूतादि २४ तत्त्वों में इस संसार को प्रकट कर तमोभूत अवस्था के विध्वंसक हो प्रकट हुए। सृष्टि की कामना से इस स्वयंशरीरी भगवान् ने अपने शरीर से जल की सृष्टि की और उसमें बीज डालकर सुवर्ण सदृश तेजोमय एक अण्डा निकाला। उस अण्डे में भगवान् ने स्वयं पितामह ब्रह्मा के रूप में जन्म ग्रहण किया। इसके पश्चात् ब्रह्मा ने अपने ध्यानबल से इस ब्रह्माण्ड को दो खण्डों में विभक्त कर दिया। ऊर्ध्व खण्ड में स्वर्गादि लोक, अधोखण्ड में पृथिव्यादि तथा मध्यदेश में आकाश, अष्टदिक् और समुद्रों की सृष्टि की। इसके अनन्तर मानव आदि प्राणी तथा उनमें मन, विषयग्राहक इन्द्रियाँ, अनन्त कार्यक्षमता, अहंकार आदि का सृजन किया। सारांश यह कि 'अण्डे' के भीतर से जब भगवान् निकले तब उनके सहस्र सिर, सहस्र नेत्र और सहस्र भुजाएँ थीं। ये ही उस मानव सृष्टि के रूप में प्रकट हुए जो सृष्टि असीम, अनन्त और विराट् थी। इस विश्व को भगवान् का द्वितीय रूप कहा गया है, जिसके दोनों चक्षु चन्द्र और सूर्य बताये गये हैं।

उपर्युक्त सृष्टि-निर्माण के विश्लेषण से स्पष्ट है कि मानव को जिस समय इन्द्रियाँ और मन प्राप्त हुए उसी समय उसे सृष्टि-रहस्य को व्यक्त करनेवाले ज्योतिष-तत्त्व भी ज्ञात हो गये थे। चाहे उपर्युक्त सृष्टि-तत्त्व शास्त्र रूप में सहस्रों वर्षों के

बाद आया हो, पर सृष्टि-रचना के साथ ही विश्वस्रष्टा ने उनके साथ मानव का सम्बन्ध स्थापित कर दिया था, जिससे आवश्यक ज्योतिष-विषयक सिद्धान्त उसे उसी समय ज्ञात हो चुके थे।

जैन-मान्यता की दृष्टि से विचार करने पर अन्धकारकाल के ज्योतिष-तत्त्व पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इस मान्यता के अनुसार यह संसार अनादिकाल से ऐसा ही चला आ रहा है, इसमें न कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती है और न किसी का विनाश ही होता है, केवल वस्तुओं की पर्यायें बदला करती हैं। इस संसार का कोई स्रष्टा नहीं है, यह स्वयं सिद्ध है। किन्तु भारत और ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पण काल के अन्त में खण्ड प्रलय होता है जिससे कुछ पुण्यात्माओं को, जो विजयार्द्ध की गुफाओं में छिप गये थे, छोड़ शेष सभी जीव नष्ट हो जाते हैं। उत्सर्पण के दुःषमा-दुःषमा नामक प्रथम काल में जल, दूध और घी की वृष्टि से जब पृथ्वी चिकनी रहने योग्य हो जाती है तो वे बचे हुए जीव आकर बस जाते हैं और फिर उनका संसार चलने लगता है।

जैन मान्यता में बीस कोड़ाकोड़ी अद्धा[1] सागर का कल्पकाल बताया गया है। इस कल्पकाल के दो भेद हैं—एक अवसर्पण और दूसरा उत्सर्पण। अवसर्पणकाल के सुषम-सुषम, सुषम, सुषम-दुःषम, दुःषम-सुषम, दुःषम और दुःषम-दुःषम ये छह भेद तथा उत्सर्पण के दुःषम-दुःषम, दुःषम, दुःषम-सुषम, सुषम-दुःषम, सुषम और सुषम-सुषम ये छह भेद माने गये हैं। सुषम-सुषम का प्रमाण ४ कोड़ाकोड़ी सागर, सुषम का तीन कोड़ाकोड़ी सागर, सुषम-दुःषम का २ कोड़ाकोड़ी सागर, दुःषम-सुषम का ४२ हजार वर्ष कम १ कोड़ाकोड़ी सागर, दुःषम का २१ हजार वर्ष एवं दुःषम-दुःषम का २१ हजार वर्ष होता है। प्रथम और द्वितीय काल में भोगभूमि[2] की रचना, तृतीय काल के आदि में भोगभूमि और अन्त में कर्मभूमि की रचना रहती है। इस तृतीय काल के अन्त में १४ कुलकर उत्पन्न होते हैं जो प्राणियों को विभिन्न प्रकार की शिक्षाएँ देते हैं।

प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति के समय में जब मनुष्य को सूर्य और चन्द्रमा दिखलाई पड़े तो वे इनसे सशंकित हुए और अपनी शंका दूर करने के लिए उनके पास गये। इन्होंने सूर्य और चन्द्रमा सम्बन्धी ज्योतिष-विषयक ज्ञान की शिक्षा दी। जिससे इनके समय के मनुष्य इन ग्रहों के ज्ञान से परिचित होकर अपने कार्यों का संचालन करने लगे। इसके पश्चात् द्वितीय कुलकर ने नक्षत्र-विषयक शंकाओं का निराकरण कर अपने

---

१. यह अरब-खरब की संख्या से कई गुना अधिक होता है।

२. जहाँ भोजन, वस्त्र आदि समस्त आवश्यकता की चीजें कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं, वह भोगभूमि कहलाती है। इस काल में बालक ४९ दिन में युवावस्था को प्राप्त हो जाता है और आयु अपरिमित काल की होती है। इस युग में मनुष्य को योगक्षेम के लिए किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता है।

युग के व्यक्तियों को आकाश-मण्डल की समस्त बातें बतलायीं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन मान्यता के अनुसार इस कल्पकाल में आज से अरब-खरब वर्षों पहले ज्योतिष-तत्त्वों की शिक्षाएँ दी गयी थीं। उपलब्ध जैन-साहित्य भले ही इतना प्राचीन न हो, पर उसके तत्त्व मौखिक रूप में खरबों वर्ष पहले विद्यमान थे। आज इतिहास भी जैनधर्म का अस्तित्व प्रागैतिहासिक काल में स्वीकार करता है। इस धर्म सिद्धान्तों को व्यक्त करनेवाली प्राकृत भाषा ही इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि यह धर्म प्राणियों का नैसर्गिक धर्म है। प्रागैतिहासिक काल के क्षत्रिय इस धर्म के आराधक थे और वे आध्यात्मिक विद्या से पूर्ण परिचित थे। छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा आयी है, जिसमें बताया है कि अरुण के पुत्र श्वेतकेतु पांचालों की परिषद् में गये और वहाँ क्षत्रिय राजा प्रवण जैबालि ने उनसे जीव की उत्क्रान्ति, परलोक गति और जन्मान्तर के सम्बन्ध में ५ प्रश्न किये; किन्तु श्वेतकेतु उनमें से किसी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। इसके पश्चात् श्वेतकेतु अपने पिता के पास आया और जैबालि द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर उनसे चाहा, पर पिता भी उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके। अतएव दोनों मिलकर जैबालि के पास गये और उनसे प्रश्नों का उत्तर पू —

स ह कृच्छ्रीबभूव तं ह चिरं वस इत्याज्ञापयांचकार। तं होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न वाक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति।

अर्थात्—गौतम की प्रार्थना सुनकर राजा चिन्तित हुआ और उसने ऋषि से कुछ समय ठहरने को कहा और प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ किया—हे गौतम! आप मुझसे जो विद्या प्राप्त करना चाहते हैं, वह आपसे पहले किसी ब्राह्मण को प्राप्त नहीं हुई है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के निम्न मन्त्र से भी इसका समर्थन होता है—

इयं विद्या इतः पूर्वं न कस्मिंश्चित् ब्राह्मणे उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि।

—बृ उ. ३।२।८

अतएव स्पष्ट है कि आध्यात्मिक ज्ञान की धारा के समान जैन ज्योतिष की धारा भी अन्धकारकाल में विकसित थी। इसलिए उदयकाल के जैन साहित्य में ग्रह-नक्षत्रों का अत्यन्त सुस्पष्ट कथन मिलता है।

अन्धकार युग के ज्योतिष-विषयक साहित्य के अभाव में भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उस काल में ज्योतिष विकसित अवस्था में था। भारतीय ऋषियों ने दिव्य ज्ञानशक्ति द्वारा आकाश-मण्डल के समस्त तत्त्वों को ज्ञात कर लिया था और जैसे-जैसे आगे जाकर अभिव्यंजना की प्रणाली विकसित होती गयी, ज्योतिष तत्त्व साहित्य द्वारा

---

१. इणससितारावदविभयं दंडादिसीमचिण्हकदिं।
तुरगादिवाहणं सिसुमुद्ददंसणणिभ्भयं वेत्ति॥
—त्रि. सा. गा. ७९९

प्रकट होने लगे। अतएव अन्धकारकाल में ज्योतिष के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त खूब पल्लवित और पुष्पित थे। मेरा तो अनुमान है कि दैनिक कार्यों के सम्पादनार्थ उपयोगी पाक्षिक तिथिपत्र भी उस समय काम में लाये जाते थे। उस युग के प्रत्येक व्यक्ति को ग्रहनक्षत्रों का इतना ज्ञान था, जिससे वह केवल आकाश को देखकर ही समय और दिशा को ज्ञात कर लेता था। उदयकाल में जिन ज्योतिष सिद्धान्तों को साहित्यिक रूप प्रदान किया गया हैं, वे अन्धकारकालमें मौखिक रूप में वर्तमान थे।

उदयकाल (ई. पू. १०००—ई. पू. ५०० तक)

उदयकाल में समस्त ज्ञानभाण्डार एक रूप में था, इस युग में विषयों की दृष्टि से यह विभिन्न अंगों में विभक्त नहीं हुआ था। इसलिए उस काल का ज्योतिष साहित्य पृथक् नहीं मिलता है, बल्कि अन्य विषयों के साथ सन्निविष्ट है। प्राचीन मानव ज्योतिष को भी धर्म मानता था; उस युग में व्यक्ति और समाज के सारे कार्य एक ही नियम पर चलते थे; अतः धर्म, दर्शन और ज्योतिष ये भेद साहित्य में प्रस्फुटित नहीं हुए थे तथा सब विषयों का साहित्य एक साथ ही रहता था।

कुछ लोगों का कहना है कि उदयकाल के पूर्व में आर्य लोग भारत में उत्तरी ध्रुव से आये थे और यहाँ बस जाने के पश्चात् उन्होंने वेद, वेदांग आदि साहित्य की रचना की। लेकिन विचार करने पर अवगत होगा कि अन्धकारयुग में उत्तरी ध्रुव उस स्थान पर था, जिसे आज बिहार और उड़ीसा कहते हैं। वह भारत के बाहर नहीं था। आधुनिक प्राणी-शास्त्र के ज्ञाताओं ने अनुसन्धान कर प्रमाणित किया है कि उत्तरी ध्रुव स्थिर नहीं है तथा अपने प्राचीन स्थान से पूर्व, पश्चिम और उत्तर की ओर चलते हुए वर्तमान स्थिति को प्राप्त हुआ है। अतएव यह मानने में हमें तनिक भी संकोच नहीं कि प्राचीन आर्य उत्तरी ध्रुव स्थान में रहते थे और यह प्रदेश भारत के अन्तर्गत ही था। आर्यों ने उदयकाल में अपने गौरवपूर्ण वैदिक साहित्य को जन्म दिया। यद्यपि वेद, आरण्यक, ब्राह्मण, द्वादशांग, प्रकीर्णक और उपनिषद् आदि धार्मिक रचनाएँ मानी जाती हैं, पर इनमें ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्प आदि विषयों की चर्चाएँ पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। उदयकाल के साहित्य में मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, ग्रह, ग्रहण, ग्रहकक्षा, नक्षत्र, विषुव, नक्षत्र-लग्न, दिन-रात का मान और उसकी वृद्धि-हानि आदि विषयों का विचार ज्योतिष की दृष्टि से किया जाने लगा था। वेदों में प्रतिपादित ज्योतिष चर्चा की अपेक्षा शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में विकसित रूप से उपलब्ध है। इन ग्रन्थों में ज्योतिष के सिद्धान्तोंका व्यावहारिक और शास्त्रीय इन दोनों दृष्टिकोणों से प्रतिपादन किया है। ऋग्वेद के समय में दिन को केवल कामचलाऊ समय के रूप में माना जाता था, पर ब्राह्मण और आरण्यकों के समय में उसका ज्योतिष की दृष्टि से विवेचन होने लग गया था। दिन की वृद्धि कैसे और कब होती है तथा वह कितना बड़ा होता है आदि बातों की शास्त्रीय मीमांसा होने

लग गयी थी।

इस काल की ज्ञानराशि पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि सूर्य और चन्द्रमा के अतिरिक्त भौमादि ५ ग्रह भी ज्योतिषविषयक साहित्य के विषय बन गये थे। जैन अंग-साहित्य में नवग्रहों का स्पष्ट उल्लेख भी ईसवी सन् से सहस्रों वर्ष पूर्व होने लग गया था। यद्यपि उपलब्ध द्वादशांग इतना प्राचीन नहीं है, लेकिन उसकी परम्परा अविच्छिन्न रूप से बहुत पहले से चली आ रही थी। भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के अनन्तर उनके उपदेशानुसार द्वादशांग साहित्य में संशोधन और परिवर्धन किये गये थे तथा अंग-साहित्य का एक नवीन संस्करण तैयार किया गया था।

उदयकाल की ज्योतिष परम्परा में स्वतन्त्र रूप से इस विषय की रचनाएँ नहीं मिलती हैं। पर अन्य विषयों के साथ जितना इस विषय का साहित्य है, उनका संकलन किया जाये तो ख़ासा साहित्य इस युग का तैयार हो सकता है।

इस युग में ज्योतिष के भेद-प्रभेद भी आविर्भूत नहीं हुए थे, केवल सामान्य ज्योतिष शब्द से इस शास्त्र के ग्रह-नक्षत्र के गणित और उनके फल गृहीत होते थे।

ईसवी सन् से पाँच सौ वर्ष पूर्व में रचे गये प्राचीन जैन आगम में ज्योतिषी के लिए 'जोईसंगविउ' शब्द आया है। भाष्यकारों ने इस शब्द का अर्थ ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक और ताराओं के विभिन्नविषयक ज्ञान के साथ और ग्रहों की सम्यक् स्थिति के ज्ञान को प्राप्त करना, किया है। अतएव स्पष्ट है कि उदयकाल में राशिचक्र, नक्षत्रचन्द्र और ग्रहचक्र का प्रचार था।

प्रत्येक काल में ज्योतिष के ऊपर देश की परिस्थिति और राजनीति का प्रभाव पड़ता रहता है। प्रस्तुत उदयकालीन ज्योतिष भी उपर्युक्त परिस्थितियों से अछूता नहीं है। उस समय की प्रजातन्त्र प्रणाली का प्रभाव ज्योतिष पर गहरा पड़ा है। फलतः फल-प्रतिपादक ग्रह और नक्षत्रों को समान रूप में स्वीकार किया गया है। जबतक भारत में कौटिल्य नीति का प्रचार नहीं हुआ तबतक मित्रत्व, शत्रुत्व, उच्चत्व और नीचत्व आदि दृष्टियों से फल प्रतिपादन की प्रणाली का प्रचलन इस शास्त्र में नहीं हुआ है। उदयकाल में केवल ग्रहों की योग्यता की दृष्टि से फल-प्रक्रिया प्रचलित थी। इस प्रक्रिया का समर्थन विषुवकथन की प्रणाली से होता है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि इस युग में ज्योतिष ने साहित्यरूप में जन्म ही नहीं लिया था, बल्कि वह अपने शैशवकाल के साथ अठखेलियाँ करता हुआ अपनी किशोर अवस्था को प्राप्त हो रहा था।

उदयकालीन ज्योतिष-सिद्धान्त

वैदिक साहित्य विविध विषयों का अथाह समुद्र है, इसमें धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ ज्योतिष के अनेक सिद्धान्त चामत्कारिक ढंग से बताये गये हैं। ऋग्वेद में वर्ष को १२ चान्द्रमासों में विभक्त किया है तथा प्रत्येक तीसरे वर्ष चान्द्र और सौर वर्ष

का समन्वय करने के लिए एक अधिकमास—मलमास जोड़ा करते थे। एक स्थान पर ऋग्वेद में वर्ष के १२ माह, ३६० दिन और ७२० रात्रि-दिन—३६० रात्रि + ३६० दिन का वर्णन करते हुए लिखा है—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
यस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः।

—ऋक्, सं. १, १६४, ४८

मास-विचार

तैत्तिरीय संहिता में १२ महीनों के नाम मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहस, सहस्य, तपस् एवं तपस्य आये हैं। इसी प्रकरण में संसर्प अधिमास का द्योतक और अहस्पति क्षयमास का द्योतक भी आया है। पद्य निम्न प्रकार है—

मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च।
सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोऽसि सँसर्वोस्यँहस्पत्याय त्व॥

—तै. सं. १.४. १४

ऋग्वेद में चान्द्रमास और सौरवर्ष की चर्चा कई स्थानों पर आयी है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि चान्द्र और सौर का समन्वय करने के लिए अधिमास की कल्पना ऋग्वेद के समय में प्रचलित थी।

प्रश्नव्याकरणांग में बारह महीनों की बारह पूर्णमासी और अमावस्याओं के नाम और उनके फल निम्न प्रकार बताये हैं—

ता कहंते पुण्णमासी आहितेति वदेज्जा तत्थ खलु इमातो बारस पुण्णमासीओ बारस अमावसाओ पण्णत्ताओ तं जहा संविट्ठी, पोट्ठवती, असोइ, कत्तिया, मगसिरा, पोसी, माही, फग्गुणी, चेत्ती, विसाही, जेट्ठामुला, असाढी॥ —प्र. व्या. १०.१

अर्थात्—श्रावण मास की श्रविष्ठा, भाद्रपद की पौष्ठवती, आश्विन की असोई, कार्तिक की कृत्तिका, मार्गशीर्ष की मृगशिरा, पौष की पौषी, माघ की माघी, फाल्गुन की फाल्गुनी, चैत्र की चैत्री, वैशाख की विशाखी, ज्येष्ठ की मूली एवं आषाढ़ की आषाढ़ी पूर्णिमा बतायी गयी है। कहीं-कहीं पूर्णमासियों के नामों के आधार पर मासों के नाम भी आये हैं।

ऋतुविचार

उदयकाल में ऋतु-विचार किया जाता था। ई. पू. ८००० में वसन्त ऋतु ही प्रारम्भिक ऋतु मानी जाती थी, किन्तु ई. पू. ५०० में प्रारम्भिक ऋतु वर्षा ऋतु मानी जाने लगी थी। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है।

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इषश्चोर्जश्च शारदावृतू सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू । —तै. सं. ४. ४. ११

अर्थात्—मधु और माधव वसन्त ऋतु, शुक्र और शुचि ग्रीष्म ऋतु, नभस् और नभस्य वर्षा ऋतु, इष और ऊर्ज शरद् ऋतु, सहस और सहस्य हेमन्त ऋतु एवं तपस और तपस्य शिशिर ऋतुवाले मास हैं ।

ऋग्वेद में ऋतु शब्द कई स्थानों पर आया है पर वहाँ इस शब्द का प्रयोग वर्ष के अर्थ में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में पाँच ही ऋतु आयी हैं। उसमें हेमन्त और शिशिर इन दोनों को एक ही रूप में माना है—

द्वादशमासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन । —ऐ. ब्रा. १. १

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋतुओं का उल्लेख करते हुए बताया गया है—

तस्य ते वसन्तः शिरः । ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः । वर्षाः पुच्छम् । शरदुत्तरः पक्षः । हेमन्तो मध्यम् । —तै. ब्रा. ३. १०. ४. १

अर्थात्—वर्ष का सिर वसन्त, दाहिना पंख ग्रीष्म, बायाँ पंख शरद्, पूँछ वर्षा और हेमन्त को मध्य भाग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण काल में वर्ष को पक्षी के रूप में माना गया है और ऋतुओं को उसका विभिन्न अंग बतलाया है।

तैत्तिरीय संहिता में ऋतु का एक पात्र रूप में वर्णन करते हुए बताया गया है कि—

उभयतो मुखमृतुपात्रं भवति को हि तद्वेद यदृतूनां मुखम् ।

—तै. सं ६. ५. ३

तात्पर्य यह है कि ऋतु पात्र के दोनों ओर मुख रहते हैं। लेकिन इन मुखों की दिशा का ज्ञान करना कठिन है। ऋतु की स्थिति सूर्य पर निर्भर है। एक वर्ष में सौरमास का आरम्भ चान्द्रमास के आरम्भ के साथ ही होता है। प्रथम वर्ष के सौरमास का आरम्भ शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि को और आगे आनेवाले तीसरे वर्ष में सौरमास का आरम्भ कृष्णपक्ष की अष्टमी को बताया गया है। सारांश यह है कि सर्वदा सौरमास और चान्द्रमास का आरम्भ एक तिथि को न होने के कारण ऋतु आरम्भ की तिथि अनियमित है। पूर्व वैदिक युग में वर्षा ऋतु का आरम्भ निरयन मृगशिर नक्षत्र के आरम्भ के कुछ पूर्व या उत्तर माना जाता था।

शतपथ ब्राह्मण में निम्न आख्यायिका आयी है, जिससे ऋतु के सम्बन्ध में सुन्दर प्रकाश मिलता है।

प्रजापतेर्ह वै प्रजाः ससृजानस्य पर्वाणि विसस्रँसुः स वै संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयोः सन्धी पौर्णमासी चामावास्या चर्तुमुखानि ॥३५॥ स विस्रस्तैः पर्वभिः न शशाक सँहातुं तमेतैर्हविर्यज्ञैर्देवा अभिषज्यन्नग्निहोत्रेणैवाहोरात्रयोः सन्धी तत्पर्वाभिषज्यँस्तत्समदधुः पौर्णमासेन चैवामावास्येन च पौर्णमासीं

चामावास्यां च तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्समदधुश्चातुर्मास्यैरेवर्तुमुखानि तत्पर्वाभिषज्यंस्त-त्समदधुः ॥

अर्थात्—प्रजा उत्पन्न करने के बाद प्रजापति के पर्व शिथिल हो गये। इस सूत्र में प्रजापति से संवत्सर अभिप्रेत है और पर्व शब्द से अहोरात्र की दोनों सन्धियाँ—पूर्णमासी, अमावास्या एवं ऋतु-आरम्भ-तिथि ग्रहण की गयी हैं तथा चातुर्मास के ज्ञान से ऋतुओं की व्यवस्था की गयी है। तात्पर्य यह है कि शतपथ ब्राह्मण के पूर्व ऋतु व्यवस्था सौर और चान्द्रमास के अनुसार एक तिथि में सिद्ध नहीं हुई थी अतः ऋतु आरम्भ की तिथि का ज्ञान करना असम्भव-सा जँचता था; इसलिए बाद के आचार्यों ने चार महीने की ऋतु मानकर ऋतु सन्धि को ज्ञात किया था तथा अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा ये तीन ऋतुएँ मानी गयी थीं।

यदि तर्क की कसौटी पर इस ऋतु-व्यवस्था को कसा जाये तो अवगत होगा कि इस युग में पक्षसन्धि और ऋतुसन्धि की वास्तविक व्यवस्था प्रायः अज्ञात थी। हाँ, काम चलाने के लिए ये चीज़ें प्रचलित थीं।

अयन-विचार

उदयकाल में अयन के सम्बन्ध में भी शास्त्रीय विवेचन होने लग गया था। ऋग्वेद में कई स्थानों पर अयन शब्द आया है, पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि यह अयन शब्द सूर्य के दक्षिणायन या उत्तरायण का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण के निम्न पद्य से अयन के सम्बन्ध में अवगत होता है—

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो...स (सूर्यः) यत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि भवति....यत्र दक्षिणा वर्तते पितृषु तर्हि भवति॥

अर्थात्—शिशिर ऋतु से ग्रीष्म ऋतु पर्यन्त उत्तरायण और वर्षा ऋतु से हेमन्त ऋतु पर्यन्त दक्षिणायन होता था लेकिन उदयकाल की अन्तिम शताब्दियों में हेमन्त के मध्य में से ग्रीष्म के मध्य तक उत्तरायण माना जाने लगा था। यद्यपि उपर्युक्त मन्त्र में उत्तरायण और दक्षिणायन का स्पष्ट कथन नहीं है, पर प्रकरण के अनुसार अर्थ करने पर उक्त अर्थ सिद्ध हो जाता है।

तैत्तिरीय संहिता के **'तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण'** मन्त्र से सूर्य का छह महीने का उत्तरायण और छह महीने का दक्षिणायन सिद्ध होता है।

य....उदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वादित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं—सलोकतामाप्नोति।

—नारा० उ० अनु० ६०

मैत्रायणी उपनिषद् में उदग् अयन, उत्तरायण ये शब्द कई स्थानों पर आये हैं। उदक् अयन के पर्यायवाची शब्द देवयान, देवलोक और दक्षिणायन के पर्यायवाची पितृ-याण, पितृलोक बताये गये हैं।

जैन ग्रन्थों में विस्तार से उत्तरायण और दक्षिणायन की व्यवस्था बतलाते हुए लिखा है कि जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत है। सूर्य, चन्द्र आदि समस्त ज्योतिर्मण्डल इस पर्वत की परिक्रमा किया करता है। सूर्य प्रदक्षिणा की गति उत्तरायण और दक्षिणायन इन भागों में विभक्त है और इनकी वीथियाँ—गमन मार्ग १८३ हैं, जो सुमेरु की प्रदक्षिणा के रूप में गोल, किन्तु बाहर की ओर फैलते हुए हैं। इन मार्गों की चौड़ाई $\frac{४८}{६१}$ योजन है तथा एक मार्ग से दूसरे मार्ग का अन्तर दो योजन बताया गया है। इस प्रकार कुल मार्गों की चौड़ाई और अन्तरालों का प्रमाण ५१० योजन है, जो कि ज्योतिषशास्त्र की परिभाषा में चार क्षेत्र कहलाता है। ५१० योजन में से १८० योजन चार क्षेत्र जम्बूद्वीप में और अवशेष ३३० योजन लवण समुद्र में है। सूर्य एक मार्ग को दो दिन में पूरा करता है, जिससे ३६६ दिन या एक वर्ष पूरा करने में लगते हैं।

सूर्य जब जम्बूद्वीप के अन्तिम आभ्यन्तर मार्ग से बाहर की ओर निकलता हुआ लवण-समुद्र की ओर जाता है, तब बाह्य लवण-समुद्र के अन्तिम मार्ग पर चलने तक के काल को दक्षिणायन और जब सूर्य लवण-समुद्र के अन्तिम मार्ग से भ्रमण करता हुआ आभ्यन्तर जम्बूद्वीप की ओर आता है उसे उत्तरायण कहते हैं। अतएव स्पष्ट है कि उदयकाल की अन्तिम शताब्दियों में उत्तरायण और दक्षिणायन का ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म विचार होने लग गया था। भारतीय आचार्यों ने इस विषय को आगे खूब पल्लवित और पुष्पित किया।

वर्षविचार

ऋग्वेद में वर्ष के वाचक शरद् और हेमन्त शब्द आये हैं, वहाँ इन शब्दों का अर्थ ऋतु न मान संवत्सर बताया गया है। गोपथ ब्राह्मण में वर्ष के लिए हायन शब्द आया है। वाजसनेयी संहिता में वर्ष के लिए समा शब्द व्यवहृत हुआ है। वर्ष की दिन-संख्या ३५४ अथवा ३६५ मानी गयी है। शतपथ ब्राह्मण में आजकल के अर्थ में वर्ष शब्द का व्यवहार किया गया है। ऋग्वेद के १०वें मण्डल में **'समानां मास आकृतिः'** इस मन्त्र में समा शब्द के द्वारा ही वर्ष शब्द का प्रतिपादन किया गया है। वैदिक काल सायन वर्ष ग्रहण किया जाता था, यह सायन या सौर वर्ष की प्रणाली ई. पू. ५०० तक पायी जाती है। आदिकाल में निरयन वर्ष का विचार भी होने लग गया था। वर्ष या संवत्सर की व्युत्पत्ति करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

ऋतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुम्। **—श. ब्रा. ६. ७. १. १८**

अर्थात् 'संवसन्ति ऋतवः यत्र' की गयी है। तात्पर्य यह कि जिसमें ऋतुएँ वास करती हों वह वर्ष या संवत्सर कहलाता है।

वर्ष का आरम्भ कब होता था, इस सम्बन्ध में ऋग्वेद में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु यजुर्वेद में वसन्तारम्भ में वर्षारम्भ कहा गया है। उदयकाल की अन्तिम शताब्दियों में दक्षिणायन के प्रारम्भिक दिन से भी वर्षारम्भ माना जाने लगा था। यों

तो वैदिक काल में वर्ष के चान्द्र और सौर ये दो भेद भी प्रकट हो गये थे। लेकिन नाक्षत्र, बार्हस्पत्य आदि विभिन्न प्रकार के वर्ष नहीं माने जाते थे। इस काल के ऋषि मधु और माधव आदि मासों को भी सौर मास के रूप में ही मानते थे, क्योंकि वर्षारम्भ सौरमासकालिक था।

वैसे तो मासों की गणना चान्द्र मास के अनुसार भी मिलती है तथा सौर और चान्द्र के समन्वय करने के लिए प्रत्येक तीसरे वर्ष एक अधिकमास भी जोड़ा जाता था। उस समय की व्यावहारिक वर्ष-प्रणाली आजकल की वर्ष-प्रणाली से भिन्न थी। युग वर्षों के क्रमानुसार प्रत्येक वर्ष का नाम भी पृथक्-पृथक् होता था।

ठाणांग और प्रश्नव्याकरणांग में सायन सौर वर्ष का कथन मिलता है। समवायांग में चान्द्र वर्ष की दिन-संख्या ३५४ से कुछ अधिक बतलायी गयी है। ६३वें समवाय में चान्द्र वर्ष की उत्पत्ति का कथन भी किया गया है। इस प्रकार उदयकाल में वर्ष के सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टि से मीमांसा की गयी है।

युगविचार

ऋग्वेद में काल-मान का द्योतक युग शब्द कई स्थानों में आया है, लेकिन कल्प शब्द का प्रयोग इस अर्थ में कहीं पर भी दिखलाई नहीं पड़ता है। ऋग्वेद में युग के सम्बन्ध में कहा है—

तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रत्।
उपप्रमंदस्युहत्याय वज्री युद्ध सूनुः श्रवसे नाम दधे॥

—ऋ. स. १. १०३-४

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—

"मनुष्याणां संबन्धीनि इमानि दृश्यमानानि युगानि अहोरात्रसंघनिष्पाद्यानि कृतत्रेतादीनि सूर्यात्मना निष्पादयतीति शेषः"

अर्थात्—सतयुग, त्रेतादि युग शब्द से ग्रहण किये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि वेदों के निर्माण-काल में सतयुग, त्रेतादि का प्रचार था। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से युग के सम्बन्ध में एक नया प्रकाश मिलता है—

दीर्घतमा मामेतयो जुजुर्वान् दशमे युगे।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः॥—ऋ. स. १. १५८. ६

अर्थात्—इस मन्त्र में एक आख्यायिका आयी है, उसमें कहा गया है कि ममता के पुत्र दीर्घतम नाम के महर्षि अश्विन के प्रभाव से अपने दुःखों से छूटकर स्त्री-पुत्रादि कुटुम्बियों के साथ दस युग पर्यन्त सुख से जीवित रहे। यहाँ दस युग शब्द विचारणीय है। यदि पाँच वर्ष का युग माना जाये, जैसा कि आदिकाल में प्रचलित था, तो ऋषि की आयु ५० वर्ष की आती है, जो बहुत थोड़ी प्रतीत होती है और यदि दस वर्ष का युग माना जाये तो १०० वर्ष की आयु आती है। वैदिक काल

के अनुसार यह आयु भी सम्भव नहीं जँचती है। दूसरी बात यह भी है कि दस वर्ष ग्रहण करना उचित नहीं। सायणाचार्य ने युग की इस समस्या को सुलझाने के लिए **"दशयुगपर्यन्तं जीवन् उक्तरूपेण पुरुषार्थसाधकोऽभवत् अथवा जीवन् उक्तरूपेण पुरुषार्थसाधकोऽभवत्।"** इस प्रकार की व्याख्या की है। इस व्याख्या से युग-प्रमाण की समस्या सरलता से सुलझ जाती है अर्थात् दीर्घतम ने अश्विन के प्रभाव से दुख से छुटकारा पाकर जीवन के अवशेष दस युग—५० वर्ष सुख से बिताये थे। अतएव इस आख्यायिका से स्पष्ट है कि उदयकाल में युग का मान पाँच वर्ष लिया जाता था। ऋग्वेद के अन्य दो मन्त्रों से युग शब्द का अर्थ काल और अहोरात्र भी सिद्ध होता है। पाँचवें मण्डल के ७३वें सूक्त के ३रे मन्त्र में **"नहुषा युगा मन्हा रजांसि दीयथः।"** पद में युग शब्द का अर्थ—**युगोपलक्षितान् कालान् प्रसरादिसवनान् अहोरात्रादिकालान् वा"** किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उदयकाल में युग शब्द का अन्य अर्थ अहोरात्र विशिष्ट काल भी लिया जाता था। ऋग्वेद ६ठे मण्डल के ९वें सूक्त के ४थे मन्त्र में **युगे युगे विदथ्यं"** पद में युगे-युगे शब्द का अर्थ 'काले-काले' किया गया है। वाजसनेयी संहिता के १२वें अध्ययाय की १११वीं कण्डिका **"दैव्यं मानुषा युगा"** ऐसा पद आया है। इससे सिद्ध होता है कि उस काल में देव-युग और मनुष्य-युग ये दो युग प्रचलित थे। तैत्तिरीय संहिता के **"या जाता ओ अधयो देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा"** मन्त्र से देव-युग की सिद्धि होती है।

ठाणांग में पाँच वर्ष का एक युग बताया गया है। इसमें ज्योतिष की दृष्टि से युग की अच्छी मीमांसा की गयी है। एक स्थान पर बताया गया है कि—

पंच संवच्छरा प० तं० णक्खत्तसंवच्छरे, जुगसंवच्छरे, पमाणसंवच्छरे, लक्खणसंवच्छरे, सणिचरसंवच्छरे। जुगसंवच्छरे पंचविहे प० तं० चंदे-चंदे, अभिवड्ढिए चंदे अभिवड्ढिए चेव। पमाणसंवच्छरे पंचविहे प० तं० णक्खत्ते, चंदे, उऊ अइच्चे, अभिवड्ढिए।—ठा. ५, उ. ३, सू. १० अर्थात्—पंचसंवत्सरात्मक युग के ५ भेद हैं—नक्षत्र, युग, प्रमाण, लक्षण और शनि। युग के भी पाँच भेद बताये गये हैं—चन्द्र, चन्द्र, अभिवर्द्धित, चन्द्र और अभिवर्द्धित।

समवायांग में युग के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट और सुन्दर ढंग से बताया गया है—

पंच संवच्छरियस्सणं जुगस्स रिउमासेणं मिज्जमाणस्स एगसट्ठि उऊमासा प०।

—स. ६१, सू. १

अर्थात्—पंचवर्षात्मक एक युग होता है। इस युग के पाँच वर्षों के नाम चन्द्र, चन्द्र, अभिवर्द्धित, चन्द्र और अभिवर्द्धित बताये गये हैं। पंचवर्षात्मक युग में ६१ ऋतुमास होते हैं।

प्रश्न-व्याकरणांग में भी युग-प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। इसमें एक युग के दिन और पक्षों का निरूपण किया है।

उपर्युक्त युग-प्रक्रिया के ऊपर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाये तो अवगत होगा कि उदयकाल में युग शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता था। जहाँ काल-गणना अभिप्रेत थी; वहाँ पाँच वर्ष का ही युग ग्रहण किया जाता था। इस समय आदिकाल के समान पंचवर्षात्मक युग के संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर एवं इद्वत्सर ये पाँच पृथक्-पृथक् वर्ष माने जाते थे। ऋग्वेद के ७वें मण्डलान्तर्गत १०३वें सूक्त के ७वें एवं ८वें मन्त्र में संवत्सर और परिवत्सर वर्षों के नाम आये हैं तथा इन वर्षों में विधेय यज्ञों का वर्णन किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक मन्त्र से ध्वनित होता है कि उस काल में संवत्सर का स्वामी अग्नि, परिवत्सर का आदित्य, इदावत्सर का चन्द्रमा, इद्वत्सर एवं अनुवत्सर का वायु होता था। वाजसनेयी संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मणों के मन्त्रों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि उदयकाल के इन वर्षों में विशेष-विशेष कृत्य निर्धारित थे। तथा वर्तमान वर्ष के स्वामी को सन्तुष्ट करने के लिए विशेष यज्ञ किये जाते थे।

उदयकाल में कालगणना से सम्बद्ध और भी अनेक प्रकार के समय-विभाग प्रचलित थे। अन्वेषण करने से ज्ञात होता है कि सप्ताह का प्रचार इस काल में नहीं था।

जब पक्ष का विचार ऋग्वेद में वर्तमान है, तब सप्ताह का जिक्र भी होना चाहिए था, लेकिन उदयकाल की तो बात ही क्या आदिकाल और पूर्व मध्यकाल की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी सप्ताह का प्रचलन ज्योतिष में नहीं हुआ प्रतीत होता है।

ग्रहकक्षाविचार

उदयकाल में केवल समय-विभाग ज्ञान तक ही ज्योतिष सीमित नहीं था; बल्कि ज्योतिष के मौलिक सिद्धान्त भी ज्ञात थे। ग्रहकक्षा का स्पष्ट उल्लेख तो वैदिक साहित्य में नहीं है, किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण के कई मन्त्रों से सिद्ध होता है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, सूर्य और चन्द्र ये क्रमशः ऊपर-ऊपर हैं। तैत्तिरीय संहिता के निम्न मन्त्र से ग्रहकक्षा के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

यथाग्निः पृथिव्या समनमदेवं मह्यं भद्रा, सन्नतयः सन्नमन्तु वायवे समनमदन्तरिक्षाय समनमद् यथा वायुरन्तरिक्षेण 'सूर्याय समनमद् दिवा समनमद् यथा सूर्यो दिवा चन्द्रमसे समनमन्नक्षत्रेभ्यः समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रैर्वरुणाय समनमद्।

—तै. सं. ७. ५. २३

अर्थात्—सूर्य आकाश की, चन्द्रमा नक्षत्र-मण्डल की, वायु अन्तरिक्ष की परिक्रमा करते हैं और अग्निदेव पृथ्वी पर निवास करते हैं। सारांश यह है कि सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र क्रमशः ऊपर-ऊपर की कक्षावाले हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के निम्न मन्त्र से विश्वव्यवस्था के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश मिलता है—

लोकोऽसि स्वर्गोऽसि। अनन्तस्य पारोऽसि। अक्षितोस्यक्षय्योसि। तपसः प्रतिष्ठा त्वयीदमन्तः। विश्वं यक्षं विश्वं भूतं विश्वँ सुभूतं। विश्वस्य भर्त्ता विश्वस्य जनयिता। तं त्वोपदधे कामदुघमक्षितं। प्रजापतिस्त्वासादयतु। तया देवतयाङ्गिरस्व ध्रुवासीद्। तपोऽसि लोके श्रितं। तेजसः प्रतिष्ठा...तेजोऽसि तपसि श्रितं। समुद्रस्य प्रतिष्ठा....। समुद्रोऽसि तेजसि श्रितः। अपां प्रतिष्ठा। अपः स्थ समुद्रे श्रिताः। पृथिव्याः प्रतिष्ठा युष्मासु। पृथिव्यस्यप्सु श्रिता। अग्नेः प्रतिष्ठा। अग्निरसि पृथिव्याँ श्रितः। अन्तरिक्षस्य प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षमस्यग्नौ श्रितं। वायोः प्रतिष्ठा। वायुरस्यन्तरिक्षे श्रितः। दिवः प्रतिष्ठा। द्यौरसि वायौ श्रिता। आदित्यस्य प्रतिष्ठा। आदित्योऽसि दिवि श्रितः। चन्द्रमसः प्रतिष्ठा। चन्द्रमा अस्यादित्ये श्रितः। नक्षत्राणां प्रतिष्ठा। नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमसि श्रितानि। संवत्सरस्य प्रतिष्ठा युष्मासु। संवत्सरोऽसि नक्षत्रेषु श्रितः। ऋतूनां प्रतिष्ठा। ऋतवः स्थ संवत्सरे श्रिताः। मासानां प्रतिष्ठा युष्मासु। मासाः स्थर्तुषु श्रिताः। अर्धमासानां प्रतिष्ठा युष्मासु। अर्धमासाः स्थ मासेसु श्रिताः। अहोरात्रयोः प्रतिष्ठा युष्मासु। अहोरात्रे स्थोर्धमासेषु श्रिते। भूतस्य प्रतिष्ठे भव्यस्य प्रतिष्ठे। पौर्णमास्यष्टकामावास्या ॥...॥ —तै. ब्रा. ३. ११. १

अर्थात्—लोक अनन्त और अपार है, इसका कभी विनाश नहीं होता। पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष, अन्तरिक्ष के ऊपर द्यौ है। इस द्यौ लोक में सूर्य भ्रमण करता है। अन्तरिक्ष में केवल वायु गमन करता है। सूर्य के ऊपर चन्द्रमा स्थित है, इसका गमन नक्षत्रों के मध्य में होता है। मेघ, वायु, विद्युत् ये तीनों भी अन्तरिक्ष और द्यौ लोक के मध्य में हैं। सूर्य, चद्र एवं नक्षत्रों का स्थान भी द्यौ लोक है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डलान्तर्गत १६४वें सूक्त में सूर्य और लोक का वर्णन स्पष्ट आया है। मालूम होता है कि उस समय ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक की कल्पना ने ज्योतिष में स्थान प्राप्त कर लिया था।

आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होगा कि वर्तमान ग्रहकक्षा से भिन्न उस समय की ग्रहकक्षा थी। आजकल चन्द्रकक्षा को नीचे और सूर्यकक्षा को ऊपर मानते हैं। पर उदयकाल में चन्द्रमा की कक्षा को सूर्य की कक्षा से ऊपर माना जाता था। इस कक्षाक्रम का समर्थन समवायांग और प्रश्न-व्याकरणांग से भी होता है। इन ग्रन्थों में तारा, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, बुध, शुक्र, मंगल, गुरु और शनि की कक्षाओं को क्रमशः ऊपर-ऊपर बताया गया है।

सामान्यतया भारतीय आचार्यों की यह प्रारम्भिक कल्पना स्वाभाविक मालूम पड़ती है; क्योंकि जब सूर्य दिखलाई पड़ता है उस समय नक्षत्र हमारे दृष्टिगोचर नहीं होते अतः सूर्य का गमन नक्षत्रकक्षा के अन्दर नहीं होता है, यह सहज कल्पना दोषयुक्त नहीं कही जा सकती है। लेकिन चन्द्रमा के सम्बन्ध में सूर्य के गमनवाला नियम काम नहीं करता है, इसलिए चन्द्रमा के गमन के समय उसके पास के नक्षत्र दिखलाई पड़ते हैं। इसका प्रधान कारण यही ज्ञात होता है कि चन्द्रमा नक्षत्रों के मध्य से गमन

करता है। तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा ऊँचा होने के कारण नक्षत्र-प्रदेशों से गुजरता है, इसलिए उसके गमन समय में नक्षत्र दिखलाई पड़ते हैं। सूर्य नक्षत्रों से बहुत नीचे है, इसलिए उसके गमनकाल में नक्षत्र दिखलाई नहीं पड़ते हैं। इसी प्रकार बुध, शुक्र आदि की कक्षाएँ भी युक्तियुक्त प्रतीत होती हैं।

उदयकाल के साहित्य में ग्रहकक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के विचार मिलते हैं। अगले साहित्य में ये ही सिद्धान्त विकसित होकर आधुनिक रूप को प्राप्त हुए हैं।

नक्षत्र-विचार

उदयकाल में भारतीयों को नक्षत्रों का पूर्ण ज्ञान था। इन्होंने अपने पर्यवेक्षण द्वारा मालूम कर लिया था कि सम्पातबिन्दु भरणी का चतुर्थ चरण है, अतएव कृत्तिका से नक्षत्रगणना की जाती थी। कुछ विद्वानों का मत है कि उदयकाल में कृत्तिका का प्रथम चरण ही सम्पातबिन्दु था, अतएव उस काल के ज्योतिर्विद् कृत्तिका से नक्षत्र-गणना करते थे। ऋग्वेद में वर्तमान प्रणाली के अनुसार नक्षत्र-चर्चा मिलती है—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तन्ददृश्र कुहचिद्दवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकसश्चन्द्रमा नक्तमेति॥

इस मन्त्र में रात्रि में नक्षत्र-प्रकाश एवं दिन में नक्षत्रप्रकाशाभाव का निरूपण किया गया है।

वाजनावती सूर्यस्य योषा चित्रा मघा राय ईशे वसूनां।
—ऋ. सं. ७. ७. ५

इस मन्त्र में चित्रा और मघा का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में २७ नक्षत्रों को गन्धर्व कहा गया है; जिससे ध्वनित होता है कि उस समय २७ नक्षत्रों का प्रचार था; पर यह जानना कठिन है कि नक्षत्रों की गणना किस प्रकार की जाती थी। अथर्ववेद में कृत्तिकादि २८ नक्षत्रों का वर्णन करते हुए लिखा है—

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
अष्टाविंशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम्॥
सुहवं मे कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे॥
पुण्यं पूर्वाफाल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वातिः सुखो मे।
अनुराधो विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टं मूलम्॥
अन्नं पूर्वा रासन्तां मे आषाढा ऊर्जं ये उत्तर आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठा कुर्वतां सुपुष्टिम्॥
आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वयः प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं मे रयिं भरण्य आ वहन्तु॥
—अ. सं. १९. ७

इसी प्रकार तैत्तिरीय श्रुति में नक्षत्रों के नाम, उसके देवता, वचन और लिंग भी बताये गये हैं। इसके अनुसार कृत्तिका का अग्नि देवता, स्त्रीलिंग और बहुवचन; रोहिणी का प्रजापति देवता, स्त्रीलिंग और एकवचन; मृगशिर का सोम देवता, नपुंसक लिंग और एकवचन; आर्द्रा का रुद्र देवता, स्त्रीलिंग और एकवचन; पुनर्वसु का आदित्य देवता, पुल्लिंग और द्विवचन; तिष्य या पुष्य का बृहस्पति देवता, पुल्लिंग और एकवचन; आश्लेषा का सर्प देवता, स्त्रीलिंग और बहुवचन; मघा का पितृ देवता, स्त्रीलिंग और बहुवचन; पूर्वाफाल्गुनी या उत्तराफाल्गुनी का भग देवता, स्त्रीलिंग और द्विवचन; हस्त का सविता देवता, पुल्लिंग और एकवचन; चित्रा का इन्द्र देवता, स्त्रीलिंग और एकवचन; स्वाति या निष्ठ्या का वायु देवता, स्त्रीलिंग और एकवचन; विशाखा का इन्द्राग्नि देवता, स्त्रीलिंग और द्विवचन; अनुराधा का मित्र देवता, स्त्रीलिंग और बहुवचन; ज्येष्ठा का इन्द्र देवता, स्त्रीलिंग और एकवचन; मूल, विचृती या मूलबर्हिणी का निर्ऋति देवता, स्त्रीलिंग और एकवचन; आषाढा या पूर्वाषाढा का अप् देवता, स्त्रीलिंग और बहुवचन; आषाढा या उत्तराषाढा का विश्वेदेव देवता, स्त्रीलिंग और बहुवचन; अभिजित् का ब्रह्म देवता, नपुंसक लिंग और एकवचन; श्रवण या श्रोणा का विष्णु देवता, स्त्रीलिंग और एकवचन; श्रविष्ठा का वसु देवता, स्त्रीलिंग और बहुवचन; शतभिषक् का इन्द्र या वरुण देवता, पुल्लिंग और एकवचन; प्रोष्ठपद या पूर्वप्रोष्ठपद का अज-एकपाद देवता, पुल्लिंग और बहुवचन; प्रोष्ठपद या उत्तरप्रोष्ठपद का अहिर्बुध्न्य देवता, पुल्लिंग और बहुवचन; रेवती का पूषा देवता, स्त्रीलिंग और एकवचन; अश्वियुज् या अश्विनी का अश्विन देवता, स्त्रीलिंग और द्विवचन एवं भरणी का यम देवता, स्त्रीलिंग और बहुवचन बताया है। इसी स्थान पर नक्षत्रों के फलाफलों का सुन्दर विवेचन किया है। शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय संहिता में भी यही क्रम मिलता है। उदयकाल के अन्तिम भाग में नक्षत्रों के फलाफल में पर्याप्त विकास हो गया था। अथर्ववेद में मूल नक्षत्र में उत्पन्न बालक की दोष-शान्ति के लिए अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परिपाह्येनम् ।
अत्येनं नेषद्दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥

इस मन्त्र में एक मूलसंज्ञक नक्षत्रों में जात बालक के दोष को दूर करने एवं उसके कल्याण के लिए अग्निदेव से प्रार्थना की गयी है। उदयकाल में नक्षत्रों का जितना परिज्ञान भारतीयों को था उतना अन्य देशवासियों को नहीं।

वाजसनेयी संहिता में **'प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शं यादसे गणकं'** सूक्ति आयी है। इसमें प्रयुक्त नक्षत्रदर्श और गणक ये दो शब्द बहुत उपयोगी हैं, इनसे प्रकट होता है कि उदयकाल में ज्योतिष की मीमांसा शास्त्रीय दृष्टि से की जाने लगी थी।

प्रश्नव्याकरणांग में नक्षत्रों के फलों का विशेष ढंग से निरूपण करने के लिए इनका कुल, उपकुल और कुलोपकुलों में विभाजन कर वर्णन किया गया है—

ता कहंते कुला उवकुला कुलावकुला अहितोति वदेज्जा ?

तत्थ खलु इमा बारस कुला बारस उवकुला चत्तारि कुलावकुला पण्णत्ता ॥ बारस कुला तं जहा—धणिट्ठाकुलं उत्तराभद्दवयाकुलं, अस्सिणीकुलं, कत्तियाकुलं, मिगसिरकुलं, पुस्सोकुलं महाकुलं, उत्तराफग्गुणीकुलं, चित्ताकुलं, विसाहाकुलं, मूलोकुलं, उत्तराषाढाकुलं ॥ बारस उवकुला पण्णत्ता तं जहा—सवणो उवकुलं, पुव्वभद्दवया उवकुलं, रेवतिउवकुलं, भरणिउवकुलं, रोहिणीउवकुलं, पुणावसुउवकुलं, असलेसाउवकुलं, पुव्वफग्गुणीउवकुलं, हत्थे उवकुलं, साति उवकुलं, जेट्ठाउवकुलं, पुव्वासाढाउवकुलं ॥ चत्तारि कुलावकुलं पण्णत्ता तं जहा—अभिजिति कुलावकुलं, सतभिसया कुलावकुलं, अद्दाकुलावकुलं, अणुराहा कुलावकुलं ।

—प्र. व्या. १०. ५

अर्थात्—बारह नक्षत्र कुल, बारह उपकुल और चार नक्षत्र कुलोपकुलसंज्ञक हैं। धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपद, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिर, पुष्य, मघा, उत्तराफाल्गुनी, चित्रा, विशाखा, मूल एवं उत्तराषाढा ये नक्षत्र कुलसंज्ञक; श्रवण, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, भरणी, रोहिणी, पुनर्वसु, आश्लेषा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, ज्येष्ठा एवं पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र उपकुलसंज्ञक और अभिजित्, शतभिषा, आर्द्रा एवं अनुराधा कुलोपकुलसंज्ञक हैं। यह कुलोपकुल का विभाजन पूर्णमासी को होनेवाले नक्षत्रों के आधार पर किया गया है। सारांश यह है कि श्रावण मास के धनिष्ठा, श्रवण और अभिजित्; भाद्रपद मास के उत्तराभाद्रपद, पूर्वाभाद्रपद और शतभिष; क्वार या आश्विन मास के अश्विनी और रेवती; कार्तिक मास के कृत्तिका और भरणी; अगहन या मार्गशीर्ष मास के मृगशिर और रोहिणी; पौषमास के पुष्य, पुनर्वसु और आर्द्रा; माघ मास के मघा और आश्लेषा; फाल्गुन मास के उत्तराफाल्गुनी और पूर्वाफाल्गुनी; चैत्र मास के चित्रा और हस्त; वैशाख मास के विशाखा और स्वाति; ज्येष्ठ मास के मूल, ज्येष्ठा और अनुराधा एवं आषाढ़ मास के उत्तराषाढ़ा और पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र बताये गये हैं। प्रत्येक मास की पूर्णमासी को उस मास का प्रथम नक्षत्र कुलसंज्ञक, दूसरा उपकुलसंज्ञक और तीसरा कुलोपकुलसंज्ञक होता है। अर्थात् श्रावण मास की पूणिमा को धनिष्ठा पड़े तो कुल, श्रवण हो तो उपकुल और अभिजित् हो तो कुलोपकुलसंज्ञावाला होता है। इसी प्रकार आगे के मासवाले नक्षत्रों की संज्ञा का ज्ञान किया जा सकता है। इस संज्ञा का प्रयोजन उस महीने के फलादेश से बताया गया है। नक्षत्रों के दिशाद्वार का प्रतिपादन करते हुए समवायांग में बताया गया है कि—

कत्तिआइया सत्तणक्खत्ता पुव्वदारिआ। महाइआ सत्तणक्खत्ता दाहिणदारिया। अणुराहाइआ सत्तणक्खत्ता अवरदारिया। धणिट्ठाइआ सत्तणक्खत्ता उत्तरदारिआ।

—सं. अं. सं. ७ सू. ५

अर्थ—कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिर, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेषा ये सात नक्षत्र पूर्व द्वार; मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति और विशाखा दक्षिण

द्वार; अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, अभिजित् और श्रवण ये सात नक्षत्र पश्चिम द्वार एवं धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती, अश्विनी और भरणी ये सात नक्षत्र उत्तर द्वारवाले हैं।

ठाणांग में चन्द्रमा के साथ स्पर्शयोग करनेवाले नक्षत्रों का कथन करते हुए बताया गया है कि—

अट्ठ नक्खत्ताणं चंदेणसद्धिं पमद्दं जोगं जोएइ तं कत्तिया रोहिणी पुणव्वसु महा चित्ता विसाहा अणुराहा जिट्ठा।

—ठा. अं. ठा. ८ सू. १००

अर्थात्—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा ये आठ नक्षत्र स्पर्श योग करनेवाले हैं। इस योग का फल भी तिथि के हिसाब से बताया गया है। इसी प्रकार नक्षत्रों की अन्य संज्ञाएँ तथा उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व दिशा की ओर से चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले नक्षत्रों के नाम और उनके फल विस्तारपूर्वक बताये गये हैं।

उदयकाल के समग्र साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इस युग में नक्षत्रज्ञान की इतनी उन्नति हुई थी जिससे नक्षत्रों की ताराएँ और उनके आकार भी विचार के विषय बन गये थे। हस्त नक्षत्र की पाँच ताराएँ हाथ के आकार की हैं, जिस प्रकार हाथ में पाँच अँगुलियाँ होती हैं उसी प्रकार हस्त की पाँच ताराएँ भी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्रों की आकृति प्रजापति के रूप में मानी गयी है—

यो वै नक्षत्रियं प्रजापतिं वेद। उभयोरेनं लोकयोर्विदुः। हस्त एवास्य हस्तः। चित्रा शिरः। निष्ट्या हृदयं। ऊरू विशाखे। प्रतिष्ठानुराधाः। एष वै नक्षत्रियः प्रजापतिः।

—तै. ब्रा. १. ५. २

अर्थात्—नक्षत्ररूपी प्रजापति का चित्रा सिर, हस्त हाथ, निष्ट्या—स्वाति हृदय, विशाखा जंघा एवं अनुराधा पाद हैं। इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर आकाश को पुरुषाकार माना गया है। इस पुरुष का स्वाति हृदय बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्रों की आकृति का बड़ा सुन्दर विवेचन है। इन ग्रन्थों से सुस्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में नक्षत्रविद्या का भारत में अधिक विकास था। इसके प्रभाव और गुणों का वर्णन भी अथर्ववेद के कई मन्त्रों में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के एक मन्त्र में बतलाया गया है कि सप्तर्षि नक्षत्रपुंज आज्वल्यमान नक्षत्रपुंज हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के कुछ मन्त्रों में अग्न्याधान, विशेष यज्ञ एवं अन्य धार्मिक कृत्यों के लिए शुभाशुभ नक्षत्रों का कथन किया गया है। अतएव स्पष्ट है कि उदयकाल में नक्षत्रविद्या उन्नति की चरम सीमा पर थी, इसीलिए इस युग में ज्योतिष का अर्थ नक्षत्रविद्या किया जाता था। वाजसनेयी संहिता और सूयगडांग की ज्योतिषचर्चा से उपर्युक्त कथन की पुष्टि सम्यक् प्रकार हो जाती है।

ग्रहविचार

यों तो वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप से ग्रहों का उल्लेख नहीं मिलता है। केवल सूर्य और चन्द्रमा का उल्लेख प्रायः सर्वत्र पाया जाता है, पर ये भी ग्रह रूप में माने गये प्रतीत नहीं होते हैं। स्थान-स्थान पर देवता के रूप में इनसे प्रार्थनाएँ की गयी हैं। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से ग्रहों के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान हो जाता है—

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः।

देवत्रा नु प्रवाच्यं सध्रीचीनानि वावृतुर्वित्तं मे अस्य रोदसी॥

—ऋ. सं. १. १०५. १०

अर्थात्—ये महाप्रबल पाँच [देव] विस्तीर्ण द्युलोक के मध्य में रहते हैं, मैं उन देवों के सम्बन्ध में स्तोत्र तैयार करना चाहता हूँ। वे सब एक साथ आनेवाले थे, लेकिन आज वे सब निकल गये।

इस मन्त्र में देव शब्द प्रकट रूप से नहीं आया है। फिर भी पूर्वापर सन्दर्भ से उसका अध्याहार करना ही पड़ता है। यहाँ जो एक साथ आनेवाले इस पद का प्रयोग किया गया है, इससे भौमादि पाँच ग्रह सिद्ध होते हैं। क्योंकि भौमादि पाँच ग्रह आकाश में कभी-कभी एक साथ भी दिखलाई पड़ते हैं। यदि 'दिङ्मध्ये' पद का अर्थ दिनमध्ये किया जायेगा तो दोष आयेगा, क्योंकि दिन में सब ग्रह दिखाई नहीं देते; बल्कि अस्तंगत ग्रह को छोड़कर शेष सभी ग्रह रात्रि में दिखलाई पड़ते हैं। वेदमन्त्रों में देव शब्द का अर्थ सृष्टि-चमत्कार और प्रत्यक्ष तेज ही माना गया है; अतएव उपर्युक्त मन्त्र में देव शब्द का तात्पर्य देव-विशेष नहीं, प्रत्युत धात्वर्थ की अपेक्षा चमत्कार या प्रकाश है। अतएव सुस्पष्ट है कि प्रकाशयुक्त पाँच ग्रह भौमादि ग्रह ही हैं। इसका अन्य कारण यह भी है कि वेदों में अश्विनी आदि दो देव अथवा द्वादश देव या तैंतीस देवों का ही उल्लेख मिलता है। पाँच देव कहीं भी देवरूप में नहीं आये हैं। ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ५५वें सूक्त में भी पाँच देवों का अर्थ पाँच ग्रह ही लिया गया है। वहाँ उन पाँच देवों का घर नक्षत्रमण्डल में बताया है, इससे सिद्ध है कि पाँच देव भौमादि पाँच ग्रहों के ही द्योतक हैं।

एक बात यह भी है कि उदयकाल में प्रकाशमान शुक्र और गुरु भारतीयों की दृष्टि से ओझल नहीं रहे होंगे। उस समय उन दोनों का साधारण ज्ञान ही नहीं होगा, किन्तु उनके सम्बन्ध में विशेष बात भी जानते होंगे। शुक्र का ज्ञान उस समय विशेष रूप से था। ऋग्वेद के कई मन्त्रों से ध्वनित होता है कि प्रति बीस मास में नौ मास शुक्र प्रातःकाल में पूर्व दिशा की ओर दिखलाई पड़ता था, जिससे ऋषिगण स्नान, पूजा आदि के समय को ज्ञात कर अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न करते थे। वे उसे प्रकाशमान नक्षत्र नहीं समझते थे, बल्कि उसे ग्रह के रूप में मानते थे। वैदिक साहित्य से यह भी पता लगता है कि दो-तीन महीने तक बृहस्पति शुक्र के पास ही भ्रमण करता था। इन दो-तीन महीनों में कुछ दिन तक शुक्र के बहुत नजदीक रहता है, परन्तु शुक्र

की गति तेज होने के कारण बृहस्पति पीछे रह जाता है और शुक्र पूर्व की ओर आगे बढ़ जाता है। इस गमन का फल यह होता है कि शुक्र पूर्व की ओर उदित होता है और उसी काल में बृहस्पति पश्चिम की ओर अस्त को प्राप्त होता है। इस अस्त और उदय की व्यवस्था के पूर्व इतना निश्चित है कि कुछ समय तक दोनों साथ रहते। इस परिस्थिति के अध्ययन से वैदिक साहित्य में गुरु को ग्रह माना गया हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उदयकाल में शुक्र और गुरु ग्रह माने जाते थे, इस कल्पना पर निम्न मन्त्र से सुन्दर प्रकाश पड़ता है—

ईर्मान्यद्वपुषे वपुश्चक्रं रथस्य येमथुः ।
पर्यन्या नाहुषा युगा मह्ना रजांसि दीयथः ॥

—ऋ. सं. ५. ७३.३

अर्थ—हे अश्विन, तुमने अपने रथ के एक तेजस्वी चक्र को सूर्य को शोभायमान करने के लिए रख दिया है और दूसरे चक्र से तुम लोक के चारों ओर घूमते हो। उपर्युक्त मन्त्र में एक तेजस्वी चक्र को सूर्य के पास रख दिया है, इससे शुक्र का ग्रहण किया गया है और दूसरे चक्र से गुरु का ग्रहण किया गया है। निरुक्त में द्युस्थानीय देवताओं में 'अश्विनी' की गणना की गयी है और उनकी स्तुति का काल अर्धरात्रि के बाद का बताया गया है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर 'अश्विनी' का सम्बन्ध उषा से बतलाया है। निरुक्त और ऋग्वेद की इस चर्चा का ज्योतिर्दृष्टिकोण से विश्लेषण किया जाये तो ज्ञात होगा कि 'अश्विनी' गुरु और शुक्र ये दो ग्रह हैं, अन्य कोई देव नहीं।

ऋग्वेद संहिता के ४थे मण्डल के ५०वें सूक्त में गुरु के सम्बन्ध में स्वतन्त्र कल्पना भी मिलती है। इस कल्पना का तैत्तिरीय ब्राह्मण के निम्न मन्त्र से भी समर्थन होता है—

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानाः। तिष्यं नक्षत्रमपि संबभूव ॥

—त. ब्रा. ३. १. १.

अर्थात्—बृहस्पति प्रथम तिष्य नक्षत्र से उत्पन्न हुआ था। इसका परम शर १ अंश ३० कला था, इसलिए २७ नक्षत्रों में से इसके निकट पुष्य, मघा, विशाखा, अनुराधा, शतभिष और रेवती थे। गुरु और तिष्य—पुष्य नक्षत्र का योग इतना निकट है कि दोनों का भेद निर्धारण करना कठिन है, इसी से पुष्य नक्षत्र से गुरु की उत्पत्ति हुई, यह कल्पना प्रसूत हुई होगी। पुष्य नक्षत्र का स्वामी भी गुरु माना गया है, अतएव सिद्ध होता है कि उदयकाल में गुरु की गति का ज्ञान था, इससे उसका ग्रहत्व स्वयं सिद्ध है।

उदयकाल के अन्तिम भाग में ग्रहों के सम्बन्ध में ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से विभिन्न पहलुओं द्वारा विचार होने लग गया था। ठाणांग में अंगारक, व्याल, लोहिताक्ष, शनैश्चर, कनक, कनक-कनक, कनकवितान, कनकसंतानक, सोमसहित, आश्वासन,

कज्जोवग, कर्वट, अयस्कर, दुन्दुमक, शंख, शंखवर्ण, इन्द्राग्नि, धूमकेतु, हरि, पिंगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, राहु, अगस्ति, भानवक्र, काश, स्पर्श, धुर, प्रमुख, विसन्धि, नियल, पथिल, जटिलक, अरुण, अगिल, काल, महाकाल, स्वस्तिक, सौवस्तिक, वर्द्धमान, पुष्यमानक, अंकुश, प्रलम्ब, नित्यलोक, नित्योदयित, स्वयंप्रभ, उसम, श्रेयंकर, क्षेमंकर, आभंकर, प्रभंकर, अपराजित, अरज, अशोक, विगतशोक, विमल, विमुख, वितत, वित्रस्त, विशाल, शाल, सुव्रत, अनिवर्तक, एकजटी, द्विजटी, करकरीक, राजगल, पुष्पकेतु एवं भावकेतु आदि ८८ ग्रहों के नाम बताये हैं।[1]

समवायांग में भी उपर्युक्त ८८ ग्रहों का समर्थन मिलता है—

एगमेगस्सणं चंदिम सूरियस्स अट्ठासीइ अट्ठासीइ महग्गहा परिवारो प०।

—स. ८८. १

अर्थात्—एक चन्द्र और सूर्य का परिवार ८८ महाग्रहों का है।

प्रश्नव्याकरणांग में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु या धूमकेतु इन नौ ग्रहों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। अतएव उदयकाल के अन्त में ग्रहों का विचार शास्त्रीय दृष्टि से होने लग गया था।

राशिविचार

यद्यपि ऋग्वेद में राशिविचार स्पष्ट रूप में नहीं मिलता है, पर उसके निम्न मन्त्र द्वारा राशियों की कल्पना की जा सकती है—

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परिद्यामृतस्य।
आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥

—ऋ. १, १६४, ११

अर्थात्—इस मन्त्र में 'द्वादशार' शब्द से द्वादश राशियों का ग्रहण किया गया है। वैसे तो ऋग्वेद में और भी दो-एक जगह चक्र शब्द आया है, जो राशि चक्र का बोधक ही प्रतीत होता है।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।

—ऋ. १. १६४. ४८

स्पष्ट आगम प्रमाण के अभाव में भी युक्ति द्वारा इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आकाश मण्डल का राशि एक स्थूल अवयव और नक्षत्र सूक्ष्म अवयव है। जब भारतीयों ने सौर जगत् के सूक्ष्म अवयव नक्षत्रों का इतनी गम्भीरता के साथ ऊहापोह किया था, तब क्या वे स्थूलावयव राशि के बारे में कुछ भी विचार नहीं करते होंगे? साधारणतः बुद्धि द्वारा इस प्रश्न का उत्तर यही मिलेगा कि प्रचीन भारतीयों ने जहाँ सूक्ष्म अवयव नक्षत्रों को साहित्यिक मूर्तिमान् रूप प्रदान किया है, वहाँ स्थूल अवयव राशियों को भी अवश्य साहित्य का मूर्तिमान् रूप प्रदान किया होगा। एक दूसरी बात

---

१. देखें, ठा. पृ. ९८-१००।

यह भी है कि आज हमारा प्राचीन सभी साहित्य उपलब्ध भी नहीं है। सम्भवतः जिस ग्रन्थ में राशियों का विवेचन किया गया हो, वह ग्रन्थ नष्ट हो गया हो या किसी प्राचीन ग्रन्थागार में पड़ा अन्वेषकों की बाट जोह रहा हो।

कोई भी निष्पक्ष ज्योतिष का विद्वान् उदयकाल के अन्य ज्योतिष-सिद्धान्तों के विवरणों को देखकर यह मानने को तैयार नहीं होगा कि उस काल में राशियों का प्रचार नहीं था अथवा भारतीय लोग राशिज्ञान से अपरिचित थे। आदिकालीन वेदांग-ज्योतिष और ज्योतिष्करण्डक में लग्न का सुस्पष्ट वर्णन है। कुछ लोग चाहे उसे नक्षत्र-लग्न मानें या चाहे राशिलग्न; पर इतना तो मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि उदयकाल में राशियों का प्रचार था। साहित्य के अभाव में राशियों के ज्ञान के अभाव को नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

ग्रहण-विचार

ऋग्वेद संहिता के ५वें मण्डलान्तर्गत ४०वें सूत्र में सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का वर्णन मिलता है। इस स्थान पर ग्रहणों की उपद्रव-शान्ति के लिए इन्द्र आदि देवताओं से प्रार्थनाएँ की गयी हैं। ग्रहण लगने का कारण राहु और केतु को ही माना गया है।

समवायांग के १५वें समवाय के ३रे सूत्र में राहु के दो भेद बतलाये हैं—नित्यराहु और पर्वराहु। नित्यराहु को कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष का कारण तथा पर्वराहु को चन्द्रग्रहण का कारण माना है। केतु, जिसका ध्वजदण्ड सूर्य के ध्वजदण्ड से ऊँचा है, अतः भ्रमणवश यही केतु सूर्य ग्रहण का कारण होता है। अभिप्राय यह है कि सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की मीमांसा भी उदय काल में साहित्य के अन्तर्गत शामिल हो गयी थी।

विषुव और दिनवृद्धि का विचार

वेदों में दिनरात्रि की समानता का द्योतक विषुव कहीं नहीं आया है। लेकिन तैत्तिरीय ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में विषुव का कथन किया गया है—

यथा वै पुरुष एवं विषुवांस्तस्य यथा दक्षिणोर्ध एवं पूर्वार्धो विषुवन्तो यथोत्तरोर्धो एवमुत्तरोर्धो विषुवंतस्तस्मादुत्तरे इत्याचक्षते प्रबाहुक्सतः शिर एव विषुवान्।

—ऐ. ब्रा. १८. २२

अर्थात्—इस मन्त्र में विषुव को पुरुष की उपमा दी गयी है। जिस प्रकार पुरुष के दक्षिणांग और वामांग होते हैं इसी प्रकार विषुवान् संवत्सर का सिर है और उससे आगे-पीछे आनेवाले छह-छह महीने दक्षिण और वामांग हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—

संतातिर्वा एते ग्रहाः। यत्परः समानः। विषुवान् दिवाकीर्त्यं।
यथा शालायै पक्षसी। एवं संवत्सरस्य पक्षसी॥

—तै. ब्रा. १. २. ३

अर्थात् संवत्सररूपी पक्षी का विषुवान् सिर है और उससे आगे-पीछे आनेवाले छह-छह महीने उसके पंख हैं। जैन आगम ग्रन्थों में भी विषुवान् के सम्बन्ध में संक्षिप्त चर्चा मिलती है।

ऋग्वेद के मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि जिस प्रकार सूर्य दिन की वृद्धि करता है, उसी प्रकार हे अश्विन्, आयु वृद्धि करिए। दिनवृद्धि और दिनमान की चर्चा गोपथ और शतपथ ब्राह्मणों में बीज रूप से मिलती है। उदयकाल के अन्तिम भाग की रचना समवायांग में दिन-रात की व्यवस्था पर अच्छा ऊहापोह है—

बाहिराओ उत्तराओणं कट्ठाओ सूरिए पढमं छम्मासं अयमाणे चोयालीस इमे मंडलगते अट्ठासीति एगसट्ठिभागे मुहुत्तस्स दिवसखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता रयणिखेत्तस्स अभिनिवुड्ढेत्ता सूरिए चारं चरइ, दक्खिण कट्ठाओणं सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे चोयालीसतिमे मंडलगते अट्ठासीइ एगसट्ठिभागे मुहुत्तस्स रयणिखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता दिवसखेत्तस्स अभिनिवुड्ढित्ताणं सूरिए चारं चरइ।

—स. ८८. ४

अर्थात्—सूर्य जब दक्षिणायन में निषध पर्वत के अभ्यन्तर मण्डल से निकलता हुआ ४४वें मण्डल—गमनमार्ग में आता है उस समय $\frac{८८}{६१}$ मु. दिन कम होकर रात बढ़ती है—इस समय २४ घटी का दिन और ३६ घटी की रात होती है। उत्तर दिशा में ४४वें मण्डल—गमनमार्ग पर जब सूर्य आता है तब $\frac{८८}{६१}$ मु. दिन बढ़ने लगता है और इस प्रकार जब सूर्य ९३वें मण्डल पर पहुँचता है तो दिन परमाधिक अर्थात् ३६ घटी का होता है। यह स्थिति आषाढ़ी पूर्णिमा को घटती है।

सूयगडांग में भी दिन-रात की व्यवस्था के सम्बन्ध में संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, जो लगभग उपर्युक्त व्यवस्था से मिलता-जुलता है।

इस प्रकार उदयकाल में ज्योतिष के सिद्धान्त अन्य विषयों के साथ लिपिबद्ध किये गये थे।

आदिकाल (ई. पू. ५००—ई. ५०० तक) का सामान्य परिचय

उदयकाल में जहाँ वेद, ब्राह्मण और आरण्यकों में फुटकर रूप से ज्योतिषचर्चा पायी जाती है, आदिकाल में इस विषय के ऊपर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना की जाने लगी थी। इस युग में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द ये छह भेद वेदांग के प्रकट हो गये थे। अभिव्यंजना की प्रणाली विकसित होकर ज्ञानभाण्डार का विभिन्न विषयों में वर्गीकरण करने की क्षमता रखने लग गयी थी। इस युग का

मानव अपने भाव और विचारों को केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखता था, बल्कि वह उन्हें दूसरे तक पहुँचाने के लिए कटिबद्ध था। उदयकाल में वेद, ब्राह्मणादि ग्रन्थ ज्ञान सामान्य को लेकर चले थे तथा उनके प्रतिपाद्य विषय का लक्ष्य भी एक था, लेकिन इस युग में ज्ञानभाण्डार की अभिव्यक्ति का मापदण्ड ऊँचा उठा; फलतः ज्योतिष-साहित्य का विकास भी स्वतन्त्र रूप से हुआ। यज्ञों के तिथि, मुहूर्तादि स्थिर करने में इस विद्या की नितान्त आवश्यकता पड़ती थी, इसलिए इस विषय का अध्ययन आदिकाल में व्यापक रूप से हुआ। ई. पू. १००—ई. स. २०० के साहित्य से ज्ञात होता है कि आदिकाल में ज्योतिष का साहित्य केवल ग्रहनक्षत्रविद्या तक ही सीमित नहीं था, प्रत्युत धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विषय भी इस शास्त्र के आलोच्य विषय बन गये थे तथा उदयकाल में विशृंखलित रूप से प्रचलित ज्योतिष-मान्यताओं के संकलन वेदांग-ज्योतिष के रूप में आरम्भ हो गया था।

वेदांग-ज्योतिष के रचनाकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। प्रो. मैक्समूलर ने इसका रचनाकाल ई. पू. ३००, प्रो. वेबर ने ई. पू. ५००, कोलब्रुक ने ई. पू. १४१० और प्रो. ह्विटनी ने ई. पू. १३३८ बतलाया है। गणित क्रिया करने से वेदांग-ज्योतिष में प्रतिपादित अयन ई. पू. १४०८ में आता है। क्योंकि ई. पू. ५७२ में रेवती तारा सम्पाती तारा मानी गयी है। इस समय उत्तराषाढ़ा के प्रथम चरण में उत्तरायण माना गया है, लेकिन वेदांग-ज्योतिष के निर्माणकाल में धनिष्ठारम्भ में उत्तरायण माना जाता था। अर्थात् १$\frac{3}{4}$ नक्षत्र— २३ अंश २० कला का अयनान्तर पड़ता है। सम्पात की गति प्रतिवर्ष ५० कला है, अतः उक्त अन्तर १६८० वर्ष में पड़ेगा। अतएव १६८० − ५७१ = ११०८। विभागात्मक धनिष्ठारम्भी ३०० वर्ष और जोड़ देने पर ११०८ + ३०० = १४०८ वर्ष हुए। इस गणना के हिसाब से वेदांग-ज्योतिष का रचनाकाल ई. पू. १४०८ हुआ।

निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर मानना पड़ेगा कि वेदांग-ज्योतिष में प्रतिपादित तत्त्व अवश्य प्राचीन हैं, पर भाषा आदि कुछ चीजें ऐसी हैं जिससे इसका संकलन-काल ई. पू. ५०० वर्ष से पहले मानना उचित नहीं जँचता।

वेदांग-ज्योतिष में ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद ज्योतिष ये तीन ग्रन्थ माने जाते हैं। प्रथम के संग्रहकर्ता लगध नाम के ऋषि हैं, इसमें ३६ कारिकाएँ हैं। यजुर्वेद ज्योतिष में ४९ कारिकाएँ हैं, जिनमें ३६ कारिकाएँ तो ऋग्वेद ज्योतिष की हैं, और १३ नयी आयी हैं। अथर्व ज्योतिष में १६२ श्लोक हैं। इन तीनों ग्रन्थों में फलित की दृष्टि से अथर्व ज्योतिष महत्त्वपूर्ण है।

आलोचनात्मक दृष्टि से वेदांग-ज्योतिष में प्रतिपादित ज्योतिष मान्यताओं को देखने से ज्ञात होगा कि वे इतनी अविकसित और आदि रूप में हैं जिससे उनकी समीक्षा करना दुष्कर है। डॉ. जे. वर्गेस ने 'नोट्स ऑन हिन्दू एस्ट्रोनामी' नामक पुस्तक में वेदांग-ज्योतिष के अयन, नक्षत्रगणना, लग्न-साधन आदि विषयों की आलोचना

करते हुए लिखा है कि ईसवी सन् से कुछ शताब्दी पूर्व प्रचलित उक्त विषयों के सिद्धान्त स्थूल हैं। आकाश-निरीक्षण की प्रणाली का आविष्कार इस समय तक हुआ प्रतीत नहीं होता है, लेकिन इस कथन के साथ इतना स्मरण और रखना होगा कि वेदांग-ज्योतिष की रचना यज्ञ-यागादि के समय-विधान के लिए ही हुई थी, ज्योतिष-तत्त्वों के प्रतिपादन के लिए नहीं।

वेदांग-ज्योतिष के आस-पास में रचे गये जैन ज्योतिष के ग्रन्थ सूर्य-प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और ज्योतिषकरण्डक इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, इसके अतिरिक्त कल्पसूत्र, निरुक्त, व्याकरण, स्मृतियाँ, महाभारत और जीवाभिगम सूत्र आदि ईसवी सन् से सैकड़ों वर्ष पूर्व रचित ग्रन्थों में फुटकर रूप से ज्योतिष की अनेक चर्चाएँ आयी हैं।

इस काल की वैदिक ज्योतिष मान्यता में दक्षिण और उत्तर ध्रुवों में बँधा हुआ भचक्र प्रवह वायु द्वारा भ्रमण करता हुआ स्वीकार किया गया है। लेकिन जैन मान्यता में सुमेरु को केन्द्र मान ग्रहों के भ्रमण-मार्ग को बताया है। सूर्यप्रदक्षिणा की गति उत्तरायण और दक्षिणायन इन दो भागों में विभक्त है और इन अयनों की वीथियाँ—गमनमार्ग १८४ हैं, जो सुमेरु की प्रदक्षिणा के रूप में गोल किन्तु बाहर की ओर विस्तृत हैं। इन मार्गों की चौड़ाई $\frac{४८}{६१}$ योजन है तथा एक मार्ग से दूसरे मार्ग का अन्तराल लगभग दो योजन बताया गया है। इस प्रकार कुल मार्गों की चौड़ाई और अन्तरालों का प्रमाण ५१० से कुछ अधिक है, जो कि ज्योतिष में योजनात्मक सूर्य का भ्रमण-मार्ग कहा गया है। तात्पर्य यह कि सूर्य उत्तर-दक्षिण ५१० योजन के लगभग ही चलता है। निष्कर्ष यह है कि ई. पू. ५००—४०० में भारतीय ज्योतिष में ग्रहभ्रमण के दो सिद्धान्त प्रचलित थे। पहला स्कूल वह था जो पृथ्वी को केन्द्र मानकर प्रवह वायु के कारण ग्रहों का भ्रमण स्वीकार करता था और दूसरा वह था जो सुमेरु को केन्द्र मानकर स्वाभाविक रूप से ग्रहों का गमन मानता था।

भारतीय ज्योतिष के ईसवी पूर्व ५वीं शताब्दी के साहित्य का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने पर ज्ञात होगा कि इस युग में ज्योतिष ने वेदांगों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया था। वेदांग-ज्योतिष के प्रारम्भ में इस शास्त्र का प्राधान्य दिखलाते हुए कहा है—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम्॥

इस युग में ज्योतिष को ज्ञानरूपी शरीर का नेत्र कहा गया है अर्थात् नेत्रों के अभाव में जैसे शरीर अपूर्ण और व्यर्थ है उसी प्रकार ज्योतिषज्ञान के बिना अन्य विषयों का ज्ञान अपूर्ण और अनुपयोगी है। इस युग के ज्योतिषशास्त्र के ज्ञान को व्यवहारोपयोगी होने के साथ-साथ आत्मकल्याणकारी भी माना गया है। आचार्य गर्ग ने कहा है—

ज्योतिश्चक्रे तु लोकस्य सर्वस्योक्तं शुभाशुभम् ।
ज्योतिर्ज्ञानं तु यो वेद स याति परमां गतिम् ॥

अर्थात्—ज्योतिश्चक्र सम्पूर्ण लोक के शुभाशुभ को व्यक्त करनेवाला है, अतः जो ज्योतिषशास्त्र का ज्ञाता है वह परम कल्याण को प्राप्त होता है।

ई. १००–३०० तक के काल में इस शास्त्र की उन्नति विशेष रूप से हुई। कृत्तिकादि नक्षत्र-गणना में राशियों का क्रम निर्धारण नहीं किया जा सकता था, इसलिए अश्विनी आदि नक्षत्र-गणना प्रचलित हुई। तथा सम्पात तारा रेवती स्वीकृत हो गयी थी। इस काल में ज्योतिष के प्रवर्तक निम्न १८ आचार्य हुए, जिन्होंने अपने दिव्यज्ञान द्वारा ज्योतिष के सिद्धान्तग्रन्थों का निर्माण किया।

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः ।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः ॥
लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः ।
शौनकोऽष्टादशाश्चैते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्त्तकाः ॥

—काश्यप

विश्वसृड्नारदो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः ।
लोमशो यवनः सूर्यश्च्यवनः कश्यपो भृगुः ॥
पुलस्त्यो मनुराचार्यः पौलिशः शौनकोऽङ्गिराः ।
गर्गो मरीचिरित्येते ज्ञेया ज्योतिःप्रवर्त्तकाः ॥

—पराशर

अर्थात्—सूर्य, पितामह, व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पुलिश, च्यवन, यवन, भृगु एवं शौनक ये १८ ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक बतलाये गये हैं। पराशर ने इन १८ आचार्यों के साथ पुलस्त्य नाम के एक आचार्य को और माना है, अतः इनके मत से १९ आचार्य ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक हैं। नारद ने सूर्य को छोड़ शेष १७ को ही इस शास्त्र का प्रवर्तक बतलाया है। इनमें से कुछ आचार्य संहिता और सिद्धान्त इन दोनों के रचयिता हैं और कुछ सिर्फ़ एक विषय के। इनके निश्चित समय का पता लगाना कठिन है। श्री सुधाकर द्विवेदी ने वराहमिहिर विरचित पंचसिद्धान्तिका की प्रकाशिका नामक टीका के प्रारम्भ में सूर्यारुण संवाद के कई श्लोक उद्धृत किये हैं तथा उनके सम्बन्ध में बतलाया है—

"आदि वेदांग रूप ज्ञान पितामह—ब्रह्मा को प्राप्त हुआ, उन्होंने अपने पुत्र वसिष्ठ को दिया। विष्णु ने उस ज्ञान को सूर्य को दिया, वही सूर्यसिद्धान्त नाम से विख्यात हुआ। उस सिद्धान्त को मैं (सूर्य) ने मय को दिया वही वसिष्ठ सिद्धान्त है। पुलिश ने निज निर्मित सिद्धान्त को गर्ग आदि मुनियों को बतलाया। मैंने (सूर्य ने) शापग्रस्त होकर यवन जाति में जन्म पाकर रोमक को रोमकसिद्धान्त बतलाया। रोमक ने अपने नगर में उसका प्रचार किया।"

श्री रजनीकान्त शास्त्री ने सूर्यसिद्धान्त के प्रारम्भ में आयी हुई मय की कथा को रूपक बतलाया है। उनका कथन है कि मय नामक कोई यूनानी इस देश में ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आया था। जब वह इस शास्त्र का मर्मज्ञ होकर अपने यहाँ गया तो उसी ने इसका वहाँ प्रचार किया। इससे स्पष्ट है कि ई. पू. २००—ई. १०० तक के काल में ही भारतीय ज्योतिष का प्रचार विदेशों में होने लग गया था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि आदिकाल के ज्योतिषी हर तरह के ज्योतिष और अन्य गणितों से पूर्ण परिचित होते थे। शरीर के फड़कने का क्या अर्थ है, स्वप्न का फल कैसा होता है, विभिन्न प्रकार के शुभकर्मों के करने का शुभ मुहूर्त कौन-सा है, युद्ध किस दिन करना चाहिए, सेनापति कौन हो, जिससे युद्ध में सफलता मिले। इस युग का ज्योतिषी केवल शुभाशुभ समय से ही परिचित नहीं होता था, बल्कि वह प्राकृतिक ज्योतिष के आधार पर हाथी, घोड़ा एवं खड्ग आदि के इंगितों से भावी शुभाशुभ फल का निर्देश करता था।

ई. पू. १००—ई. ३०० तक के ज्योतिष-विषयक साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस काल में आलोचनात्मक दृष्टि से ज्योतिष का अध्ययन ही नहीं होता था, बल्कि इस शास्त्र के वेत्ताओं की भी आलोचनाएँ होने लग गयी थीं। यह आलोचना का क्षेत्र सीमित नहीं हुआ, किन्तु ईसवी सन् की ५वीं शताब्दी में होनेवाले आर्यभट्ट और लल्ल-जैसे धुरन्धर ज्योतिर्विदों ने सिद्धान्तगणित से हीन ज्योतिषी की खिल्ली उड़ायी है। माण्डवी की निम्न आलोचना प्रसिद्ध है—

दशदिनकृतपापं हन्ति सिद्धान्तवेत्ता त्रिदिनजनितदोषं तन्त्रविज्ञः स एव।
करण-भगणवेत्ता हन्त्यहोरात्रदोषं जनयति बहुपापं तत्र नक्षत्रसूची॥

अर्थात्—सिद्धान्तगणित को जाननेवाला दस दिन के किये गये पापों को, तन्त्रगणित का वेत्ता तीन दिन के किये गये पापों को एवं करण और भगण का ज्ञाता एक दिन के किये गये पाप को नष्ट करता है। पर केवल नक्षत्रों का ज्ञाता ज्योतिष के वास्तविक तत्त्वों की अनभिज्ञता के कारण अनेक प्रकार के पापों को उत्पन्न करता है। अभिप्राय यह है कि ईसवी सन् की ४थी और ५वीं सदी में सामान्य ज्योतिषियों की नक्षत्रसूची—मूर्ख तक कहकर निन्दा की जाने लगी थी।

आदिकाल के अन्त में भारतीय ज्योतिष ने अनेक संशोधन देखे। ईसवी सन् की ५वीं सदी में होनेवाले आर्यभट्ट ने इस शास्त्र में एक नयी क्रान्ति की। उसने अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा अनेक मौलिक सिद्धान्तों के साथ-साथ ग्रहों को स्थिर और पृथ्वी को चल सिद्ध किया तथा इस आधार-स्तम्भ पर ग्रहगणित का निर्माण किया। इधर जैन मान्यता में ऋषिपुत्र, भद्रबाहु और कालकाचार्य ने ज्योतिष के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को ग्रन्थ रूप में निबद्ध किया। कालकाचार्य के सम्बन्ध में आयी हुई एक कथा से प्रकट होता है कि इन्होंने विदेशों में भ्रमण किया था तथा अन्य

देशों के ज्योतिष-वेत्ताओं के साथ रहकर प्रश्नशास्त्र और रमलशास्त्र का परिष्कार कर भारत में प्रचार किया। आदिकाल में ज्योतिष-साहित्य का प्रणयन खूब हुआ है।

आदिकाल (ई. पू. ५०० से ई. ५०० तक)

प्रमुख ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का संक्षिप्त परिचय

ऋक् ज्योतिष

इस काल की सबसे प्रधान और प्रारम्भिक रचना वेदांग-ज्योतिष है। यद्यपि इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं, पर भाषा, शैली और विषय के परीक्षण द्वारा ई. पू. ५०० रचनाकाल मालूम पड़ता है। ऋक् ज्योतिष के प्रारम्भ में प्रतिपाद्य विषयों का जिक्र करते हुए बताया गया है—

पञ्चसंवत्सरमययुगाध्यक्षं प्रजापतिम्।
दिनर्त्वयनमासाङ्गं प्रणम्य शिरसा शुचिः ॥१॥
ज्योतिषामयनं पुण्यं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
सम्मतं ब्राह्मणेन्द्राणां यज्ञकालार्थसिद्धये ॥२॥

—ऋ. ज्यो. श्लो. १-२

अर्थात्—एक युगसम्बन्धी दिवस, ऋतु, अयन, मास और युगाध्यक्ष का वर्णन किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि पंचवर्षात्मक युग के अयन-नक्षत्र, अयन-मास, अयन-तिथि, ऋतु प्रारम्भ काल, पर्वराशि, उपादेयपर्व, भांश, योग, व्यतिपात और ध्रुवयोग, मुहूर्त प्रमाण, नक्षत्र देवता, उग्र तथा क्रूर नक्षत्र, अधिमास, दिनमान, प्रत्येक नक्षत्र का भोग्यकाल, लग्नानयन, चन्द्रर्तुसंख्या, वेधोपाय एवं कलादि लक्षण का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। इसमें माघशुक्ला प्रतिपदा को युगारम्भ और पौष कृष्णा अमावास्या को युग समाप्ति बतायी गयी है—

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ।
स्यात्तदादियुगं माघस्तपश्शुक्लोऽयनो ह्युदक् ॥६॥

अर्थात्—जब धनिष्ठा नक्षत्र के साथ सूर्य और चन्द्रमा योग को प्राप्त होते हैं, उस समय युगारम्भ होता है। यह काल माघ शुक्ल प्रतिपत् को पड़ता है। उत्तरायण और दक्षिणायन की चर्चा भी उदयकाल से भिन्न मिलती है। इस युग में आश्लेषार्ध में दक्षिणायन और धनिष्ठादि में उत्तरायण माना गया है। एक युग के नक्षत्र और तिथ्यादि निम्न प्रकार बताये गये हैं।

प्रथमं सप्तमं चाहुरयनाद्यं त्रयोदशम्।
चतुर्थं दशमं चैव द्वियुग्मं बहुलेऽप्यृतौ ॥९॥
वसुस्त्वष्टा भवोऽजश्च मित्रस्सर्पोऽश्विनौ जलम्।
अर्यमार्कोऽयनाद्यास्स्युरर्धपञ्चमभास्त्वृतुः ॥१०॥

अर्थात्—युग का प्रथम अयन माघ शुक्ला प्रतिपदा को धनिष्ठा नक्षत्र में, द्वितीय अयन श्रावण शुक्ला सप्तमी को चित्रा नक्षत्र में, तृतीय अयन माघ शुक्ला त्रयोदशी को आर्द्रा नक्षत्र में, चतुर्थ अयन श्रावण कृष्णा चतुर्थी को पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र में, पाँचवाँ अयन माघ कृष्णा दशमी को अनुराधा नक्षत्र में, छठा अयन श्रावण शुक्ला प्रतिपदा को आश्लेषा नक्षत्र में, सातवाँ माघ शुक्ला सप्तमी को अश्विनी नक्षत्र में, आठवाँ श्रावण शुक्ला त्रयोदशी को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में, नवाँ माघ कृष्णा चतुर्थी को उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में और दसवाँ अयन श्रावण कृष्णा दशमी को रोहिणी नक्षत्र में माना गया है।

दिनमान का कथन करते हुए उसकी हानि-वृद्धि का प्रमाण बताया है—

घर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपाह्रास उदग्गतौ।
दक्षिणे तौ विपर्यासः षण्मुहूर्त्ययनेन तु ॥८॥

अर्थात् उत्तरायण सूर्य में एक प्रस्थ जल निकलने के काल प्रमाण—छह मुहूर्त दिन की वृद्धि होती है, और इतने ही मुहूर्त रात्रि का क्षय होता है। दक्षिणायन में विपरीत—छह मुहूर्त रात्रि की वृद्धि और इतने ही मुहूर्त दिन का ह्रास होता है। अर्थात् उत्तरायण में सबसे बड़ा दिन १८ मुहूर्त—३६ घटी का और रात १२ मुहूर्त—२४ घटी की होती है। दक्षिणायन में सबसे बड़ी रात १८ मुहूर्त और दिन १२ मुहूर्त का होता है। इस ग्रन्थ में एक चान्द्र वर्ष ३५४ दिन $\frac{१२}{६२}$ मुहूर्त का, एक नाक्षत्र वर्ष ३२७$\frac{५१}{६७}$ दिन का, सावन वर्ष ३६० दिन का, सौर वर्ष ३६६ दिन का और अधिक माससहित एक चान्द्र वर्ष ३८३ दिन २१$\frac{६}{६२}$ मुहूर्त का बताया गया है। एक युग में ६० सौर मास, ६१ सावन मास और ६७ नाक्षत्र मास बताये हैं। पंचवर्षीय एक युग के दिनादि का मान इस प्रकार कहा है—

एक युग में सौर दिन	= १८००
,, ,, चान्द्र मास	= ६२
,, ,, सावन दिन	= १८३०
,, ,, चान्द्र दिन	= १८६०
,, ,, क्षय दिन	= ३०
,, ,, भगण या नक्षत्रोदय	= १८३५
,, ,, चान्द्र भगण	= ६७
,, ,, चान्द्र सावन दिन	= १७६८
एक सौर वर्ष में नक्षत्रोदय	= ३६७
एक अयन से दूसरे अयन पर्यन्त सौर दिन	= १८०
एक अयन से दूसरे अयन तक सावन दिन	= १८३

ऋक् ज्योतिष में एक चान्द्र मास में २९$\frac{३२}{६२}$ दिन और एक तिथि में २९$\frac{३२}{६२}$ मुहूर्त बताये गये हैं। इसमें नक्षत्र गणना कृत्तिका और धनिष्ठा से मिलती है। नक्षत्रों का नामकरण निम्न प्रकार है—

(१) जौ—अश्विनी, (२) द्रा—आर्द्रा, (३) गः—पूर्वाफाल्गुनी, (४) खे—विशाखा (५) श्वे—उत्तराषाढ़ा, (६) हिः—पूर्वाभाद्रपद, (७) रो—रोहिणी, (८) षा—आश्लेषा, (९) चित्—चित्रा, (१०) मू—मूल, (११) शक्—शतभिषक्, (१२) ण्ये—भरणी, (१३) सू—पुनर्वसु, (१४) मा—उत्तराफाल्गुनी, (१५) धा—अनुराधा, (१६) न—श्रवण, (१७) रे—रेवती, (१८) मृ—मृगशिर, (१९) घा—मघा, (२०) स्वा—स्वाति, (२१) पा—पूर्वाषाढ़ा, (२२) अज—पूर्वाभाद्रपद, (२३) कृ—कृत्तिका, (२४) ष्य—पुष्य, (२५) हा—हस्त, (२६) जे—ज्येष्ठा, (२७) ष्ठा—धनिष्ठा। इन नक्षत्रों के देवता भी इन्हीं संकेताक्षरों में बतला दिये गये हैं।

विषुवत् की पक्ष और तिथि-संख्या निकालने का नियम इस प्रकार बतलाया है—

विषुवन्तं द्विरभ्यस्य रूपोनं षड्गुणीकृतम्।
पक्षा यदर्धं पक्षाणां तिथिस्स विषुवान् स्मृतः॥

तात्पर्य यह है कि समान दिन-रात प्रमाणवाला विषुव दिन वर्ष में दो बार आता है। यह अयन के प्रत्येक अर्ध भाग में पड़ता है। आजकल से हिसाब से सायन मेषादि और सायन तुलादि में पड़ता है, पर इसका अर्थ भी वही है जो ऋक् ज्योतिष में अयनार्ध बतलाया है, क्योंकि कर्क से लेकर धनु पर्यन्त दक्षिणायन होता है, इसमें तुला के सायन सूर्य में विषुव दिन पड़ेगा। इसी प्रकार मकर से लेकर मिथुन तक उत्तरायण होता है, इसमें भी मेष के सायन सूर्य में विषुव दिन माना गया है—अर्थात् अयन के अर्ध भाग में ही विषुव दिन पड़ता है, अतएव माघ शुक्ल के आदि से तीन सौर मास के अन्तराल में पहला विषुव दिन पड़ेगा। इसकी गणित प्रक्रिया के लिए त्रैराशि की कि—६० सौर मासों में १२४ चान्द्र पक्ष होते हैं तो तीन सौर मास में कितने हुए? इस प्रकार $3 \times \frac{124}{60} = \frac{31}{5}$ यह शेष रखा। दूसरे विषुव में छह सौर मास होंगे, इसलिए अन्तर्गत पक्ष $\frac{31}{5} \times \frac{6}{3} = \frac{62}{5}$ दो विषुवों में क्षेप एक गुणा, तीन में द्विगुणा तथा चार में तिगुना, इस प्रकार इष्ट विषुव में एक कम गुणा क्षेप मानना पड़ेगा। अतः (वि–१) को पक्षों में गुणा कर देने पर अभीष्ट विषुव संख्या आ जायेगी। अतः अभीष्ट विषुव संख्या = वि–(अन्तर्गत पक्ष)–$\frac{62}{5}$ (वि.–१) = $\frac{62}{5}$ वि. = $\frac{62}{5}$ इसमें क्षेपक को जोड़ देने पर युगादि से विषुव संख्या आ जायेगी। आर्य ज्योतिष में भी इसी अभिप्राय का एक करणसूत्र आया है।

ऋक् ज्योतिष के रचनाकाल तक ग्रह और राशियों का स्पष्ट व्यवहार नहीं होता था। इस ग्रन्थ में नक्षत्रोदय रूप लग्न का उल्लेख अवश्य है, पर उसका फल आजकल के समान नहीं बताया गया है। यदि गणित ज्योतिष की दृष्टि से ऋक् ज्योतिष को परखा जाये तो निराश ही होना पड़ेगा, क्योंकि उसमें गणित ज्योतिष की कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। सिर्फ यही कहा जा सकेगा कि यज्ञ-यागादि के समय ज्ञान के लिए नक्षत्र, पर्व, अयन आदि का विधान बताया गया है।

यजु और अथर्व ज्योतिष

यजुर्वेद ज्योतिष प्रायः ऋक् ज्योतिष से मिलता-जुलता है। विषय प्रतिपादन में कोई मौलिक भेद नहीं है। अथर्व ज्योतिष में फलित ज्योतिष की अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हैं। वास्तव में इन तीनों वेदांग-ज्योतिषों में ज्योतिष का स्वतन्त्र ग्रन्थ यही कहा जा सकता है। विषय और भाषा की दृष्टि से इसका रचनाकाल उक्त दोनों से अर्वाचीन है। इसमें तिथि, नक्षत्र, करण, योग, तारा और चन्द्रमा के बलाबल का सुन्दर निरूपण किया गया है—

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रं च चतुर्गुणम् ।
वारश्चाऽष्टगुणः प्रोक्तः करणं षोडशान्वितम् ॥९९॥
द्वात्रिंशद्गुणो योगस्तारा षष्टिसमन्विता ।
चन्द्रः शतगुणः प्रोक्तस्तस्माच्चन्द्रबलाबलम् ॥९१॥
समीक्ष्य चन्द्रस्य बलाबलानि ग्रहाः प्रयच्छन्ति शुभाशुभानि ।

अर्थात्—तिथि का एक गुण, नक्षत्र के चार गुण, वार के आठ गुण, करण के सोलह गुण, योग के बत्तीस गुण, तारा के साठ गुण और चन्द्रमा के सौ गुण कहे गये हैं। चन्द्रमा के बलाबलानुसार ही अन्य ग्रह शुभाशुभ फल देते हैं। तात्पर्य यह है कि अथर्व ज्योतिष की रचना के समय ज्योतिषशास्त्र का विचार सूक्ष्म दृष्टि से होने लग गया था। इस समय भारतवर्ष में वारों का भी प्रचार हो गया था तथा वाराधिपति भी प्रचलित हो गये थे—

आदित्यः सोमो भौमश्च तथा बुधबृहस्पती ।
भार्गवः शनैश्चरश्चैव एते सप्त दिनाधिपाः ॥९३॥

इसी प्रकार इसमें जातक के जन्म-नक्षत्र को लेकर सुन्दर ढंग से फल बतलाया है—

जन्मसंपद्विपत्क्षेम्यः प्रत्वरः साधकस्तथा ।
नैधनो मित्रवर्गश्च परमो मैत्र एव च ॥१०३॥
दशमं जन्मनक्षत्रात्कर्मनक्षत्रमुच्यते ।
एकोनविंशतिं चैव गर्भाधानकमुच्यते ॥१०४॥
द्वितीयमेकादशं विंशमेष संपत्करो गणः ।
तृतीयमेकविंशं तु द्वादशं तु विपत्करम् ॥१०५॥
क्षेम्यं चतुर्थं द्वाविंशं यथा यच्च त्रयोदशम् ।
प्रत्वरं पञ्चमं विद्यात् त्रयोविंशं चतुर्दशम् ॥१०६॥
साधकं तु चतुर्विंशं षष्ठं पञ्चदशं च यत् ।
नैधनं पञ्चविंशं तु षोडशं सप्तमं तथा ॥१०७॥
मैत्रे सप्तदशं विद्यात्षड्विंशमिति चाष्टमम् ।
सप्तविंशं परं मैत्रं नवमष्टादशं च यत् ॥१०८॥

अर्थात्—तीन-तीन नक्षत्रों का एक-एक वर्ग स्थापित कर फल बताया है—

वर्गक्रम

१ जन्म नक्षत्र	१० कर्म नक्षत्र	१९ आधान नक्षत्र
२ संपत्कर नक्षत्र	११ संपत्कर नक्षत्र	२० संपत्कर नक्षत्र
३ विपत्कर नक्षत्र	१२ विपत्कर नक्षत्र	२१ विपत्कर नक्षत्र
४ क्षेमकर नक्षत्र	१३ क्षेमकर नक्षत्र	२२ क्षेमकर नक्षत्र
५ प्रत्वर नक्षत्र	१४ प्रत्वर नक्षत्र	२३ प्रत्वर नक्षत्र
६ साधक नक्षत्र	१५ साधक नक्षत्र	२४ साधक नक्षत्र
७ निधन नक्षत्र	१६ निधन नक्षत्र	२५ निधन नक्षत्र
८ मित्र नक्षत्र	१७ मित्र नक्षत्र	२६ मित्र नक्षत्र
९ परममित्र नक्षत्र	१८ परममित्र नक्षत्र	२७ परममित्र नक्षत्र

उपर्युक्त नक्षत्रों का वर्गीकरण, जिसे तारा कहा जाता है, आज तक इसी प्रकार का चला आ रहा है। यों तो जातक ग्रन्थों के फलादेश में बहुत संशोधन और परिवर्धन हुए हैं; पर तारा का फलादेश जैसे का तैसा ही रह गया है। इस छोटे-से ग्रन्थ में ग्रह, उल्का, विद्युत्, भूकम्प, दिग्दाह आदि का फल भी संक्षेप में बताया है, ग्रहों के विशेष फलादेश के कथन में 'न **कृष्णपक्षे शशिनः प्रभावः**' कहकर कृष्णपक्ष में चन्द्रमा को सर्वथा निर्बल बताया है और अन्य ग्रहों के बलाबलानुसार कार्यों के करने का विधान है।

सूर्यप्रज्ञप्ति

वेदांग-ज्योतिष के समान प्राचीन ज्योतिष का प्रामाणिक और मौलिक ग्रन्थ सूर्यप्रज्ञप्ति है। इस ग्रन्थ की भाषा प्राकृत है। मलयगिरि सूरि ने संस्कृत टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में प्रधान रूप से सूर्य के गमन, आयु, परिवार संख्या का निरूपण किया गया है। इसमें जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा बताये हैं, तथा प्रत्येक सूर्य के अट्ठाईस-अट्ठाईस नक्षत्र अलग-अलग कहे गये हैं। इन सूर्यों का भ्रमण एकान्तर रूप से होता है, इससे दर्शकों को एक ही सूर्य दृष्टिगोचर होता है। इसमें दिन, मास, पक्ष, अयन आदि का कथन करते हुए दिनमान के सम्बन्ध में बताया है—

तस्से आदिच्चस्स संवच्छरस्स सइंअट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति। सइंअट्ठारसमुहुत्ता राती भवति सइंदुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति सइंदुवालसमुहुत्ता राती भवति। पढमे छम्मासे अत्थि अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति। दोच्चे छम्मासे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे णत्थि अट्ठारस मुहुत्ता राती अत्थि दुवालसमुहुत्ते दिवसे पढमे छम्मासे दोच्चे छम्मासे णत्थि।

अर्थात्—उत्तरायण में सूर्य लवणसमुद्र के बाहरी मार्ग से जम्बूद्वीप की ओर आता है और इस मार्ग के प्रारम्भ में सूर्य की चाल सिंह गति, भीतरी जम्बूद्वीप के आते-आते

क्रमशः मन्द होती हुई गजगति को प्राप्त हो जाती है। इस कारण उत्तरायण के आरम्भ में बारह मुहूर्त—२४ घटी का दिन होता है, किन्तु उत्तरायण की समाप्ति पर्यन्त गति के मन्द हो जाने से १८ मुहूर्त—३६ घटी का दिन होने लगता है और रात १२ मुहूर्त की—९ घण्टा २६ मिनिट की होने लगती है। इसी प्रकार दक्षिणायन के प्रारम्भ में सूर्य जम्बूद्वीप के भीतरी मार्ग से बाहर की ओर—लवणसमुद्र की ओर मन्द गति से चलता हुआ शीघ्र गति को प्राप्त होता है जिससे दक्षिणायन के आरम्भ में १८ मुहूर्त—१४ घण्टा २४ मिनिट का दिन और १२ मुहूर्त की रात होती है, परन्तु दक्षिणायन के अन्त में शीघ्र गति होने के कारण सूर्य अपने रास्ते को शीघ्र तय करता है जिससे १२ मुहूर्त का दिन और १८ मुहूर्त की रात होती है। मध्य में दिनमान लाने के लिए अनुपात से १८ − १२ = ६ मु. अं., $\frac{६}{१८३} = \frac{१}{३१}$ मु. की प्रतिदिन के दिनमान उत्तरायण में वृद्धि और दक्षिणायन में हानि होती है।

यह दिनमान में सब जगह एक नहीं होगा, क्योंकि हमारा निवासरूपी पृथ्वी, जो कि जम्बूद्वीप का एक भाग है, समतल नहीं है। यद्यपि जैन मान्यता में जम्बूद्वीप को समतल माना गया है, लेकिन सूर्यप्रज्ञप्ति में बताया है कि पृथ्वी के बीच में हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिणी इन छह पर्वतों के आ जाने से यह कहीं ऊँची और कहीं नीची हो गयी है। अतः ऊँचाई, नीचाई अर्थात् अक्षांश, देशान्तर के कारण दिनमान में अन्तर पड़ जाता है।

इस ग्रन्थ में पंचवर्षात्मक युग के अयनों के नक्षत्र, तिथि और मास का वर्णन निम्न प्रकार मिलता है—

पढमा बहुलपडिवए बिइया बहुलस्स तेरिसीदिवसे।
सुद्धस्स या दसमीये बहुलस्स य सत्तमीए उ॥
सुद्धस्स चउत्थीए पवत्तये पंचमीउ आवुट्टा।
एया आवुट्टीओ सव्वाओ सावणे मासे॥
बहुलस्स सत्तमीए पढमा सुद्धस्स तो चउत्थीए।
बहुलस्स य पडिवए बहुलस्स य तेरसीदिवसे॥
सुद्धस्स य दसमीए पवत्तए पंचमीउ आउट्टी।
एता आउट्टीओ सव्वाओ माह मासंमि॥ –सू. प्र., पृ. २२२

अर्थात्—युग का पहला दक्षिणायन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को अभिजित् नक्षत्र में, दूसरा उत्तरायण माघ कृष्णा सप्तमी को हस्त नक्षत्र में, तीसरा दक्षिणायन श्रावण कृष्णा त्रयोदशी को मृगशिर नक्षत्र में, चौथा उत्तरायण माघ शुक्ला चतुर्थी को शतभिषा नक्षत्र में, पाँचवाँ दक्षिणायन श्रावण शुक्ला दशमी को विशाखा नक्षत्र में, छठा उत्तरायण माघ कृष्णा प्रतिपदा को पुष्य नक्षत्र में, सातवाँ दक्षिणायन श्रावण कृष्णा सप्तमी को रेवती नक्षत्र में, आठवाँ उत्तरायण माघ कृष्णा त्रयोदशी को मूल नक्षत्र में, नौवाँ दक्षिणायन

श्रावण शुक्ला नवमी को पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र में और दसवाँ उत्तरायण माघ कृष्णा त्रयोदशी को कृत्तिका नक्षत्र में होता है।

इस ग्रन्थ में सूर्य-परिवार और भ्रमण-वृत्तों के सम्बन्ध में सुन्दर विवेचन किया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति

चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय प्रायः सूर्यप्रज्ञप्ति से मिलता-जुलता है। फिर भी इतना तो मानना पड़ेगा कि इसका विषय सूर्यप्रज्ञप्ति की अपेक्षा परिष्कृत है। इसमें सूर्य की प्रतिदिन की योजनात्मिका गति निकाली है तथा उत्तरायण और दक्षिणायन की वीथियों का अलग-अलग विस्तार निकालकर सूर्य और चन्द्रमा की गति निश्चित की है। इसके चतुर्थ प्राभृत में चन्द्र और सूर्य का संस्थान तथा तापक्षेत्र का संस्थान विस्तार से बताया है। ग्रन्थकर्ता ने समचतुरस्र, विषमचतुरस्र आदि विभिन्न आकारों का खण्डन कर सोलह वीथियों में चन्द्रमा का समचतुरस्र गोल आकार बताया है। इसका कारण यह है कि सुषमासुषमा काल के आदि में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन जम्बूद्वीप का प्रथम सूर्य पूर्व-दक्षिण—अग्निकोण में और द्वितीय सूर्य पश्चिमोत्तर—वायव्यकोण में चला। इसी प्रकार प्रथम चन्द्रमा पूर्वोत्तर—ईशानकोण में और द्वितीय चन्द्रमा पश्चिम-दक्षिण—नैर्ऋत्यकोण में चला। अतएव युगादि में सूर्य और चन्द्रमा का समचतुरस्र संस्थान था, पर उदय होते समय ये ग्रह वर्तुलाकार से निकले, अतः चन्द्र और सूर्य का आकार अर्धक पीठ—अर्धसमचतुरस्र गोल बताया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में छाया साधन किया है, तथा छाया प्रमाण पर के दिनमान का भी प्रमाण निकाला है, ज्योतिष की दृष्टि से यह विषय महत्त्वपूर्ण है। २५ वस्तुओं की छाया बतायी गयी है, इनमें एक कीलकच्छाया या कीलच्छाया का भी उल्लेख आया है; मालूम पड़ता है कि यह कीलच्छाया ही आगे जाकर शंकुच्छाया के रूप में परिवर्तित हो गयी है। कीली का मध्यम मान द्वादश अंगुल माना है, जो आजकल के शंकुमान के बराबर है। कीलच्छाया का कथन सिर्फ़ संकेतमात्र है, विस्तृत रूप से इसके सम्बन्ध में कुछ विचार नहीं किया है। पुरुषच्छाया पर से दिनमान की साधनिका की गयी है—

ता अवड्ढ पोरिसिणं च्छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा ता ति भागे गए वा ता सेसे वा पोरिसिणं छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा जाव चउभाग गए वा सेसे वा, ता दिवड्ढ पोरिसिणं छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा, ता पंचभाग गए वा सेसे वा एवं अवड्ढ पोरिसिणं छाया पुच्छा दिवसस्स भागं छोट्टुवा गरणं जाव वा अंगुलट्ठि पोरिसिणं छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा ता एकूण वीसमतं भागे वा सेसे वा सातिरेग-अंगुणसट्ठि पोरिसिणं छाया दिवसस्स किं गए वा सेसे वा गणं किं गए किंचि विगए वा सेसे वा। —चं. प्र. ९.५।

अर्थात्—जब अर्ध पुरुष प्रमाण छाया हो उस समय कितना दिन व्यतीत हुआ और कितना शेष रहा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि ऐसी छाया की स्थिति में दिनमान का तृतीयांश व्यतीत हुआ समझना चाहिए। यहाँ विशेषता इतनी है कि यदि दोपहर के पहले अर्ध पुरुष प्रमाण छाया हो तो दिन का तृतीय भाग गत दो तिहाई भाग अवशेष तथा दोपहर के बाद अर्ध पुरुष प्रमाण छाया हो तो दो तिहाई भाग प्रमाण दिन गत और एक भाग प्रमाण दिन शेष समझना चाहिए। पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भाग गत और तीन चौथाई भाग शेष, डेढ़ पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का पंचम भाग गत और चार पंचम भाग—$\frac{4}{5}$ भाग अवशेष दिन समझना चाहिए। इसी प्रकार दोपहर के बाद की छाया में विपरीत दिनमान जानना चाहिए। इस ग्रन्थ में गोल, त्रिकोण, लम्बी, चौकोर वस्तुओं की छाया पर से दिनमान का ज्ञान किया गया है। यह छाया-प्रकरण ग्रहों की गति का ज्ञान करने के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसपर से ग्रन्थकर्ता ने सूर्य के मण्डलों का ज्ञान करने के नियम भी निर्धारित किये हैं। आगे जाकर इस ग्रन्थ में नक्षत्रों की गति और चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले नक्षत्रों का विवेचन किया है। चन्द्रमा के साथ तीस मुहूर्त तक योग करनेवाले श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिर, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल और पूर्वाषाढ़ा ये पन्द्रह नक्षत्र बताये हैं। पैंतालीस मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले उत्तराभाद्रपद, रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा और उत्तराषाढ़ा—ये छह नक्षत्र एवं पन्द्रह मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा ये छह नक्षत्र बताये गये हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति के १९वें प्राभृत में चन्द्रमा को स्वतः प्रकाशमान बतलाया तथा इसके घटने-बढ़ने का कारण भी स्पष्ट किया है। १८वें प्राभृत में चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं की ऊँचाई का कथन किया है। इस प्रकरण के प्रारम्भ में अन्य मान्यताओं की मीमांसा की गयी है। और अन्त में जैन मान्यता के अनुसार ७९० योजन से लेकर ९०० योजन की ऊँचाई के बीच में ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति बतायी है। २०वें प्राभृत में सूर्य और चन्द्रग्रहणों का वर्णन किया गया है तथा राहु और केतु के पर्यायवाची शब्द भी गिनाये गये हैं, जो आजकल के प्रचलित पर्यायवाची शब्दों से भिन्न हैं।

ज्योतिष्करण्डक

यह प्राचीन ज्योतिष का मौलिक ग्रन्थ है। इसका विषय वेदांग-ज्योतिष के समान अविकसित अवस्था में है। इसमें भी नक्षत्र लग्न का प्रतिपादन किया गया है। भाषा एवं रचना-शैली आदि के परीक्षण से पता लगता है कि यह ग्रन्थ ई. पू. ३००—४३० का है। इसमें लग्न के सम्बन्ध में बताया गया है—

लग्गं च दक्खिणायविसुवे सुवि अस्स उत्तरं अयणे।
लग्गं साई विसुवेसु पंचसु वि दक्खिणे अयणे॥

अर्थात्—अस्स यानी अश्विनी और साई—स्वाति ये नक्षत्र विषुव के लग्न बताये गये हैं। यहाँ विशिष्ट अवस्था की राशि के समान विशिष्ट अवस्था के नक्षत्रों को लग्न माना है।

इस ग्रन्थ में कृत्तिकादि, धनिष्ठादि, भरण्यादि, श्रवणादि एवं अभिजितादि नक्षत्र गणनाओं की समालोचना की गयी है।

कल्प, सूत्र, निरुक्त और व्याकरण में ज्योतिषचर्चा

आश्वलायन सूत्र, पारस्कर सूत्र, हिरण्यकेशी सूत्र, आपस्तम्ब सूत्र आदि सूत्र ग्रन्थों में फुटकल रूप से ज्योतिषचर्चा मिलती है। आश्वलायन सूत्र में "**श्रावण्यां पौर्णमास्यां श्रावणकर्म,**" "**सीमन्तोन्नयनं....यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्**" इत्यादि अनेक वाक्य विभिन्न कार्यों के विभिन्न मुहूर्तों के लिए आये हैं। पारस्कर सूत्र में विवाह के नक्षत्रों का वर्णन करते हुए लिखा है—"**त्रिषु त्रिषु उत्तरादिषु स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्याम्।**" अर्थात् उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपद, रेवती और अश्विनी विवाह नक्षत्र बताये गये हैं। इन सूत्र ग्रन्थों में विभिन्न कार्यों के विधेय नक्षत्रों का वर्णन मिलता है। बोधायन सूत्र में—"**मीनमेषयोर्मेषवृषभयोर्वसन्तः**" इस प्रकार लिखा मिलता है। इससे सिद्ध है कि सूत्र ग्रन्थों के समय में राशियों का प्रचार भारत में हो गया था।

निरुक्त में दिन-रात्रि, शुक्ल-कृष्ण पक्ष, उत्तरायण-दक्षिणायन का कई स्थानों पर चामत्कारिक वर्णन आया है। इसमें युगपद्धति की पूर्व मध्यकालीन ज्योतिष ग्रन्थों के समान सुन्दर मीमांसा मिलती है।

पाणिनीय व्याकरण में संवत्सर, हायन, चैत्रादि मास, दिवस विभागात्मक मुहूर्त शब्द, पुष्य, श्रवण, विशाखा आदि नक्षत्रों की व्युत्पत्ति की गयी है। "**विभाषा ग्रहः**" ३। १। १४३ में ग्रह शब्द से नवग्रहों का अनुमान करना भी असंगत नहीं कहा जा सकेगा।

स्मृति एवं महाभारत की ज्योतिषचर्चा

मनुस्मृति में सैद्धान्तिक ग्रन्थों के समान युग और कल्पना का वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में नवग्रहों का स्पष्ट कथन है—

सूर्यः सोमो महीपुत्रः सोमपुत्रो बृहस्पतिः।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चैते ग्रहाः स्मृताः॥

—आचाराध्याय

इस श्लोक पर से सातों वारों का अनुमान भी सहज में किया जा सकता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में क्रान्तिवृत्त के १२ भागों का भी कथन है, जिससे मेषादि १२ राशियों की सिद्धि हो जाती है। श्राद्धकाल अध्याय में वृद्धियोग का भी कथन है, इससे

ज्योतिषशास्त्र के २७ योगों का समर्थन होता है। वास्तविक योग शब्द के अर्थ में व्यवहृत योग सर्वप्रथम अथर्व ज्योतिष में ही मिलता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रायश्चित्त अध्याय में **"ग्रहसयोगजैः फलैः"** इत्यादि वाक्यों द्वारा ग्रहों के संयोगजन्य फलों का भी कथन किया गया है। इस स्मृति में अमुक नक्षत्र में अमुक कार्य विधेय है इसका कथन बहुत अच्छी तरह से किया है।

महाभारत में ज्योतिषशास्त्र की अनेक बातों का वर्णन मिलता है। इसमें युगपद्धति मनुस्मृति-जैसी ही है। सतयुगादि के नाम, उनमें विधेय कृत्य कई जगह आये हैं। कल्पकाल का निरूपण शान्तिपर्व के १८३वें अध्याय में विस्तार से किया गया है। पंचवर्षात्मक युग का भी कथन उपलब्ध होता है। संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर एवं इद्वत्सर इन ५ युगसम्बन्धी ५ वर्षों में क्रमशः पाण्डव उत्पन्न हुए थे—

अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसंवत्सरा इव॥

—आ. प., अ. १२४-२४

पाण्डवों को वनवास जाने के बाद कितना समय हुआ, इसके सम्बन्ध में भीष्म दुर्योधन से कहते हैं—

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात्।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः॥
एषामभ्यधिका मासाः पञ्च च द्वादश क्षपाः।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः॥

—वि. प., अ. ५३. ३.४

पाँच वर्ष में दो अधिमास यह वेदांग-ज्योतिष पद्धति है और अधिमास आदि की कल्पना भी वेदांग-ज्योतिष के अनुसार ही महाभारत में है।

महाभारत के अनुशासन पर्व के ६४वें अध्याय में समस्त नक्षत्रों की सूची देकर बतलाया गया है कि किस नक्षत्र में दान देने से किस प्रकार का पुण्य होता है। महाभारतकाल में प्रत्येक मुहूर्त का नामकरण भी व्यवहृत होता था तथा प्रत्येक मुहूर्त का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न धार्मिक कार्यों से शुभाशुभ के रूप में माना जाता था। २७ नक्षत्रों के देवताओं के स्वभावानुसार विधेय नक्षत्र से भावी शुभ एवं अशुभ का निर्णय किया गया है। शुभ नक्षत्रों में ही विवाह, युद्ध एवं यात्रा करने की पद्धति थी। युधिष्ठिर के जन्म-समय का वर्णन करते हुए बताया गया है कि—

ऐन्द्रे चन्द्रसमारोहे मुहूर्तेऽभिजिदष्टमे।
दिवो मध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेति पूजिते॥

अर्थात्—आश्विन सुदी पंचमी के दोपहर को अष्टम अभिजित् मुहूर्त में सोमवार के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में जन्म हुआ। महाभारत में कुछ ग्रह अधिक अनिष्टकारक बताये गये हैं,

विशेषतः शनि और मंगल को अधिक दुष्ट माना है। मंगल लाल रंग का समस्त प्राणियों को अशान्ति देनेवाला और रक्तपात करनेवाला समझा जाता था। केवल गुरु ही शुभ और समस्त प्राणियों को सुख-शान्ति देनेवाला बताया गया है। ग्रहों का शुभ नक्षत्रों के साथ योग होना प्राणियों के लिए कल्याणदायक माना जाता था। उद्योग पर्व के १४३वें अध्याय के अन्त में ग्रह और नक्षत्रों के अशुभ योगों का विस्तार से वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण ने जब कर्ण से भेंट की, तब कर्ण ने इस प्रकार ग्रह-स्थिति का वर्णन किया है—"शनैश्चर रोहिणी नक्षत्र में मंगल को पीड़ा दे रहा है, ज्येष्ठा नक्षत्र में मंगल वक्री होकर अनुराधा नामक नक्षत्र से योग कर रहा है। महापातसंज्ञक ग्रह चित्रा नक्षत्र को पीड़ा दे रहा है। चन्द्रमा के चिह्न विपरीत दिखलाई पड़ते हैं और राहु सूर्य को ग्रसित करना चाहता है।" शल्य-वध के समय प्रातःकाल का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ ॥ श. प., अ. ११.१८

अर्थात्—शुक्र और मंगल इन दोनों का योग बुध के साथ अत्यन्त अशुभकारक बताया गया है। आज भी बुध और शनि का योग अशुभ माना जाता है। महाभारत में १३ दिन का पक्ष अत्यन्त अशुभ बताया गया है—

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां तु षोडशीम्।
इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम् ॥
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम् ॥

अर्थात्—व्यास जी अनिष्टकारी ग्रहों की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि १४, १५ एवं १६ दिनों के पक्ष होते थे, पर १३ दिनों का पक्ष इसी समय आया है तथा सबसे अधिक अनिष्टकारी तो एक ही मास में सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का होना है और यह ग्रहण योग भी त्रयोदशी के दिन पड़ रहा है, अतः समस्त प्राणियों के लिए भयोत्पादक है। महाभारत से यह भी सिद्ध होता है कि उस समय व्यक्ति के सुख-दुख, जीवन-मरण आदि सभी ग्रह-नक्षत्रों की गति से सम्बद्ध माने जाते थे।

उपर्युक्त ज्योतिष-चर्चा के अतिरिक्त ई. १०० के लगभग स्वतन्त्र ज्योतिष के ग्रन्थ भी लिखे गये, जो रचयिता के नाम पर उन सिद्धान्तों के नाम से ख्यात हुए। वराहमिहिराचार्य ने अपने पंचसिद्धान्तिका नामक संग्रह ग्रन्थ में पितामह सिद्धान्त, वसिष्ठ सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्त और सूर्य सिद्धान्त इन ५ सिद्धान्तों का संग्रह किया। डॉक्टर थीबो साहब ने पंचसिद्धान्तिका की अँगरेजी भूमिका में पितामह सिद्धान्त को सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋक्ज्योतिष के समान प्राचीन बताया है, लेकिन परीक्षण करने पर इसकी इतनी प्राचीनता मालूम नहीं पड़ती है। ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य ने पितामह सिद्धान्त को ही आधार माना है। पितामह सिद्धान्त में सूर्य और चन्द्रमा के अतिरिक्त अन्य ग्रहों का गणित नहीं आया है।

वसिष्ठ सिद्धान्त—पितामह सिद्धान्त की अपेक्षा यह संशोधित और परिवर्द्धित रूप में है। इसमें सिर्फ़ १२ श्लोक हैं, सूर्य और चन्द्र के सिवा अन्य ग्रहों का गणित इसमें भी नहीं है। ब्रह्मगुप्त के कथन से ज्ञात होता है कि पंचसिद्धान्तिका में संग्रहीत वसिष्ठ सिद्धान्त के कर्ता कोई विष्णुचन्द्र नाम के व्यक्ति थे। डॉ. थीबो साहब ने बतलाया है कि विष्णुचन्द्र इसके निर्माता नहीं, बल्कि संशोधक हैं। श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने ब्रह्मगुप्त के समय में ही दो प्रकार का वासिष्ठ बतलाया है, एक मूल, दूसरा विष्णुचन्द्र का। वर्तमान में लघुवसिष्ठ सिद्धान्त नामक ग्रन्थ मिलता है जिसमें ९४ श्लोक हैं। इसका गणित पंचसिद्धान्तिका के वसिष्ठ सिद्धान्त की अपेक्षा परिमार्जित और विकसित है।

रोमक सिद्धान्त—इसके व्याख्याता लाटदेव हैं। इसकी रचना-शैली से मालूम पड़ता है कि यह किसी ग्रीक सिद्धान्त के आधार पर लिखा गया है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अलकजेण्ड्रिया के प्रसिद्ध ज्योतिषी टालमी के सिद्धान्तों के आधार पर संस्कृत में रोमक सिद्धान्त लिखा गया है, इसका प्रमाण वे यवनपुर के मध्याह्नकालीन सिद्ध किये गये अहर्गण को रखते हैं। ब्रह्मगुप्त, लाट, वसिष्ठ, विजयनन्दी और आर्यभट्ट के ग्रन्थों के आधार पर कुछ अन्य विद्वान् इसे श्रीषेण द्वारा लिखा गया बतलाते हैं। डॉ. थीबो साहब श्रीषेण को मूल ग्रन्थ का रचयिता नहीं मानते हैं, बल्कि उसका उसे वह संशोधक बतलाते हैं। इसका गणित पूर्व के दो सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक विकसित है। इसमें सैद्धान्तिक विषयों का निम्न वर्णन गणित-सहित किया है—

महायुगान्त	(४३२०००० वर्षों का), युगान्त	(२८५० वर्षों का)।
नक्षत्र भ्रम	१५८२१८५६००	१०४३८०३
रवि भ्रम	४३२००००	२८५०
सावन दिवस	१५७७८६५६४०	१०४०९५३
चन्द्र भगण	५७७५१५७८ $\frac{१८}{१९}$	३८१००
चन्द्रोच्च भगण	४८८२५ $\frac{१३७०८}{५७५८९}$	३२२ $\frac{२२८}{३०३९}$
चन्द्रपात भगण	२३२१६५ $\frac{१०६०८५}{९६३१९१}$	१५३ $\frac{२६८८१}{९६३९१९}$
सौर मास	५१८४००००	३४२००
अधिमास	१५९१५७८ $\frac{१८}{१९}$	१०५०
चन्द्रमास	५३४३१५७८ $\frac{१८}{१९}$	३५२५०
तिथि	१६०२९४७३६८ $\frac{८}{१९}$	१०५७५००
तिथिक्षय	२५०८१५७८ $\frac{१८}{१९}$	१६५४७

ब्रह्मगुप्त ने इस सिद्धान्त की खूब खिल्ली उड़ायी है। वास्तव में इसका गणित अत्यन्त स्थूल है। कुछ विद्वानों ने इसका रचनाकाल ई. १००-२०० के मध्य में माना है। इसके विषय को देखने से उपर्युक्त रचनाकाल युक्तियुक्त भी जँचता है।

पौलिश सिद्धान्त—इसका ग्रहगणित भी अंकों द्वारा स्थूल रीति से निकाला गया है। एलबेरुनी का मत है कि अलकजेण्ड्रियावासी पौलिश के यूनानी सिद्धान्तों के आधार पर इसकी रचना हुई है। डॉ. कर्न साहब ने इस मत का खण्डन किया है। उनका कहना है कि प्राचीन भारतीयों को 'यवनपुर' ज्ञात था, तथा वे वहाँ के अक्षांश, देशान्तर आदि से पूर्ण परिचित थे। वर्तमान में वराह और भट्टोत्पल का पृथक्-पृथक् संग्रहीत पौलिश सिद्धान्त मिलता है, लेकिन दोनों में कोई समानता नहीं है। वराहमिहिर द्वारा संग्रहीत पौलिश सिद्धान्तों में चर निकालने के लिए निम्न श्लोक आया है—

यवनाच्चरजा नाड्यः सप्तावन्त्यास्त्रिभागसंयुक्ताः।
वाराणस्यां त्रिकृतिः साधनमन्यत्र वक्ष्यामि॥

अर्थात्—उज्जैनी में चर ७ घटी २० पल और बनारस में ९ घटी हैं, अन्य स्थानों के चर का साधन गणित द्वारा किया गया है। डॉ. थीबो साहब ने इस सिद्धान्त का विवेचन करते हुए बताया है कि प्राचीन पौलिश सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है। वराह के पौलिश सिद्धान्त से मालूम पड़ता है कि इसके ग्रहगणित में अति स्थूलता है। आज जो पौलिश के नाम से सिद्धान्त उपलब्ध है, वह अपने मूल रूप में नहीं है।

सूर्य सिद्धान्त—इसके कर्ता कोई सूर्य नाम के ऋषि बतलाये जाते हैं। इसमें आयी हुई कथा के आधार पर इसका रचनाकाल त्रेता युग का प्रारम्भिक भाग बताया गया है। पर उपलब्ध सूर्य सिद्धान्त इतना प्राचीन नहीं जँचता है। कुछ लोगों का कथन है कि स्वयं सूर्य भगवान् ने मय की तपस्या से प्रसन्न होकर उस असुर को ज्योतिष ज्ञान दिया था। श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने सूर्य सिद्धान्त की भूमिका में असुर नाम की एक भौतिकवादी जाति बतलायी है, शिल्प और यन्त्रविद्या में यह जाति निपुण होती थी। सूर्य नामक ऋषि ने इसी जाति को ज्योतिषशास्त्र की शिक्षा दी थी। पाश्चात्त्य विद्वानों ने सूर्य सिद्धान्त की स्थूलता का परीक्षण कर इसका रचनाकाल ई. पू. १८० या ई. १०० बताया है। यह ग्रन्थ ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि वर्तमान में उपलब्ध सूर्य सिद्धान्त प्राचीन सूर्य सिद्धान्त से भिन्न हैं, फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सैद्धान्तिक ग्रन्थों में यह सबसे प्राचीन है। इसमें युगादि से अहर्गण लाकर मध्यम ग्रह सिद्ध किये गये हैं और आगे संस्कार देकर स्पष्टग्रहविधि प्रतिपादित की है। इसके प्रारम्भ में ग्रहों की गति सिद्ध करते हुए लिखा गया है—

पश्चात् व्रजन्तोऽतिजवान्नक्षत्रैः सततं ग्रहाः।
जीयमानास्तु लम्बन्ते तुल्यमेव स्वमार्गगाः॥
प्राग्गतित्वमतस्तेषां भगणैः प्रत्यहं गतिः।
परिणाहवशाद्भिन्ना तद्वशाद्भानि भुञ्जते॥

अर्थात्—शीघ्रगामी नक्षत्रों के साथ सदैव पश्चिम की ओर चलते हुए ग्रह अपनी-अपनी कक्षा में समान परिमाण में हारकर पीछे रह जाते हैं, इसीलिए वह पूर्व की ओर चलते

हुए दिखलाई पड़ते हैं और कक्षाओं की परिधि के अनुसार उनकी दैनिक परिधि भी भिन्न दिखाई पड़ती है, इसलिए नक्षत्र चक्र को भी यह भिन्न समय में—शीघ्रगामी ग्रह थोड़े समय में और मन्दगति अधिक समय में पूरा करते हैं। तात्पर्य यह है कि आकाश में जितने तारे दिखलाई पड़ते हैं, वे सब ग्रहों के साथ पश्चिम की ओर जाते हुए मालूम पड़ते हैं; परन्तु नक्षत्रों के बहुत शीघ्र चलने के कारण ग्रह पीछे रह जाते हैं और पूर्व को चलते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इनकी पूर्व की ओर बढ़ने की चाल तो समान है, पर इनकी कक्षाओं का विस्तार भिन्न होने से इनकी गति भी भिन्न देख पड़ती है। इस कथन से ग्रहों की योजनात्मिका और कलात्मिका, दोनों प्रकार की गतियाँ सिद्ध हो जाती हैं।

इस ग्रन्थ में मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, परलेखाधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, नक्षत्रग्रहयुत्यधिकार, उदयास्ताधिकार, शृंगोन्नत्यधिकार, पाताधिकार और भूगोलाध्याय नामक प्रकरण हैं।

उपर्युक्त पंचसिद्धान्तों के अतिरिक्त नारदसंहिता, गर्गसंहिता आदि दो-चार संहिता ग्रन्थ और भी मिलते हैं, परन्तु इनका रचनाकाल निर्धारित करना कठिन है। गर्गसंहिता के जो फुटकर प्रकरण उपलब्ध हैं, वे बड़े उपयोगी हैं, उनसे भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। युगपुराण नामक अंश से उस युग की राजनीतिक और सामाजिक दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ की भाषा प्राकृत मिश्रित संस्कृत है, भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ जैन मालूम पड़ता है। परन्तु निश्चित प्रमाण एक भी नहीं है। ज्योतिषशास्त्र विज्ञानमूलक होने के कारण इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। अतएव प्राचीन ग्रन्थों में अनेक संशोधन हुए हैं, इसी कारण किसी भी ग्रन्थ का सबल प्रमाणों के अभाव में रचनाकाल ज्ञात करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसे कई प्रकरण हैं जिनसे पता चलता है कि उस काल में ज्योतिषी हर प्रकार के ज्योतिष-गणित से पूर्ण परिचित थे। तथा ज्योतिषशास्त्र का पर्यवेक्षण आलोचनात्मक ढंग से होने लग गया था। इसके एक-दो स्थल ऐसे भी हैं, जिनमें वसिष्ठ सिद्धान्त और पितामह सिद्धान्त के प्रचार का भी भान होता है। आर्यभट्ट से कुछ पूर्व ऋषिपुत्र नाम के एक ज्योतिर्विद् हुए हैं। इनकी गणितविषयक रचनाएँ तो नहीं मिलती हैं, पर संहिताशास्त्र के यह प्रथम लेखक जँचते हैं।

पराशर—नारद और वसिष्ठ के अनन्तर फलित ज्योतिष के सम्बन्ध में महर्षिपद प्राप्त करनेवाले पराशर हुए हैं। कहा जाता है कि "कलौ पाराशरः स्मृतः" अर्थात् कलियुग में पराशर के समान अन्य महर्षि नहीं हुए। उनके ग्रन्थ ज्योतिष विषय के जिज्ञासुओं के लिए बहुत उपयोगी हैं। बृहत्पाराशरहोराशास्त्र के प्रारम्भ में बताया है—

अथैकदा मुनिश्रेष्ठं त्रिकालज्ञं पराशरम्।
पप्रच्छोपेत्य मैत्रेयः प्रणिपत्य कृताञ्जलिः॥

एक समय मैत्रेय जी ने महर्षि पराशर के समीप उपस्थित होकर साष्टांग प्रणाम करके हाथ जोड़कर पूछा —

भगवन् ! परमं पुण्यं गुह्यं वेदाङ्गमुत्तमम् ।
त्रिस्कन्धं ज्यौतिषं होरा गणितं संहितेति च ॥
एतेष्वपि त्रिषु श्रेष्ठा होरेति श्रूयते मुने ।
त्वत्तस्तां श्रोतुमिच्छामि कृपया वद मे प्रभो ॥

हे भगवन् ! वेदांगों में श्रेष्ठ ज्योतिषशास्त्र के होरा, गणित और संहिता इस प्रकार तीन स्कन्ध हैं । उनमें भी सबसे होराशास्त्र ही श्रेष्ठ है, वह मैं आपसे सुनना चाहता हूँ । कृपा कर मुझे बतला दिया जाये ।

पराशर का समय कौन-सा है तथा इन्होंने अपने जन्म से किस स्थान को पवित्र किया था, यह अभी तक अज्ञात है । पर इनकी रचना 'बृहत्पाराशरहोरा' के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि इनका समय 'वराहमिहिर' से कुछ पूर्व है । वराहमिहिर ने बृहज्जातक में ग्रहों के उच्चनीचस्थान, मूलत्रिकोण, नैसर्गिकमित्रता प्रभृति विषय बृहत्पाराशरहोरा से ग्रहण किये प्रतीत होते हैं, भाषा-शैली और विषय निरूपण वराहमिहिर से पूर्ववर्ती प्रतीत होता है । सृष्टितत्त्व का निरूपण सूर्य सिद्धान्त के समान है । पौराणिक साहित्य में भी सृष्टि का निरूपण इसी प्रकार उपलब्ध होता है । मनुस्मृति और सूर्य सिद्धान्त के सृष्टिक्रम की अपेक्षा भिन्न है । बताया है—

एकोऽव्यक्तात्मको विष्णुरनादिः प्रभुरीश्वरः ।
शुद्धसत्त्वो जगत्स्वामी निर्गुणस्त्रिगुणान्वितः ॥
संसारकारकः श्रीमान्निमित्तात्मा प्रतापवान् ।
एकांशेन जगत्सर्वं सृजत्यवति लीलया ॥

—सृष्टिक्रम, श्लो. १२–१३

स्पष्ट है कि उक्त कथन पौराणिक है अतः बृहत्पाराशरहोरा का समय ७–८वीं शती होना चाहिए ।

कौटिल्य में पराशर का नाम आता है । पर यह नहीं कहा जा सकता कि ये पराशर 'बृहत्पाराशरहोराशास्त्र' के रचयिता से भिन्न हैं या वही हैं । पराशर की एक स्मृति भी उपलब्ध है । गरुडपुराण में पराशर स्मृति के ३९ श्लोकों को संक्षिप्त रूप में अपनाया है, इससे इस स्मृति की प्राचीनता सिद्ध है । कौटिल्य ने पराशर और पराशरमतों की छह बार चर्चा की है । पराशर का नाम प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध है । तैत्तिरीयारण्यक एवं बृहदारण्यक में क्रम से व्यास पाराशर्य एवं पाराशर्य नाम आये हैं । निरुक्त ने 'पाराशर' के मूल पर लिखा है । पाणिनि ने भी भिक्षुसूत्र नामक ग्रन्थ को पाराशर्य माना है । पराशर स्मृति की भूमिका में आया है कि ऋषि लोगों ने व्यास के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे कलियुग के मानवों के लिए आचारसम्बन्धी धर्म की बातें लिखें । व्यास जी उन्हें बदरिकाश्रम में शक्तिपुत्र अपने पिता पराशर के

पास ले गये और पराशर ने उन्हें वर्णधर्म के विषय में बताया। पराशर स्मृति में अन्य १९ स्मृतियों के नाम आये हैं। पराशर स्मृति में कुछ नयी और मौलिक बातें भी पायी जाती हैं। पराशर ने मनु, उशना, बृहस्पति आदि का उल्लेख किया है। इस स्मृति में विनायक स्तुति भी पायी जाती है। पाराशर संहिता का मिताक्षरा, विश्वरूप या अपरार्क ने उद्धरण नहीं दिया है, किन्तु चतुर्विंशतिमत के भाष्य में भट्टोजिदीक्षित तथा दत्तकमीमांसा में नन्दपण्डित ने इससे उद्धरण लिये हैं। अतएव स्पष्ट है कि बृहत्पाराशरहोरा के रचयिता यदि स्मृतिकार पराशर ही हैं, तो इनका समय ईसवी पूर्व होना चाहिए। हमारा अनुमान है कि बृहत्पाराशरहोरा के रचयिता पराशर ईसवी सन् की ५-६वीं शती के हैं। ग्रन्थ की भाषा और शैली के साथ विषय-विवेचन भी वराहमिहिर से पूर्ववर्ती है। अतः ग्रन्थ का रचनाकाल ई. सन् ५वीं शती और रचनास्थल पश्चिम भारत है।

बृहत्पाराशरहोरा ९७ अध्यायों में है। उपसंहाराध्याय में समस्त विषयों की सूची दे दी गयी है। इसमें ग्रहगुणस्वरूप, राशिस्वरूप, विशेषलग्न, षोडशवर्ग, राशिदृष्टि कथन, अरिष्टाध्याय, अरिष्टभंग, भावविवेचन, द्वादशभावों का पृथक्-पृथक् फलनिर्देश, अप्रकाशग्रहफल, ग्रहस्फुट-दृष्टिकथन, कारक, कारकांशफल, विविधयोग, रवियोग, राजयोग, दारिद्रयोग, आयुर्दाय, मारकयोग, दशाफल, विशेष नक्षत्र दशाफल, कालचक्र, सूर्यादि ग्रहों की अन्तर्दशाओं का फल, अष्टकवर्ग, त्रिकोणशोधन, पिण्डसाधन, रश्मिफल, नष्टजातक, स्त्रीजातक, अंगलक्षणफल, ग्रहशान्ति, अशुभजन्म-निरूपण, अनिष्टयोगशान्ति आदि विषय वर्णित हैं। संहिता और जातक दोनों ही प्रकार के विषय इस ग्रन्थ में आये हैं। यह ग्रन्थ फलित की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। ग्रन्थ के अन्त में बताया है—

इत्थं पराशरेणोक्तं होराशास्त्रचमत्कृतम् ।
नवं नवजनप्रीत्यै विविधाध्यायसंयुतम् ॥
श्रेष्ठं जगद्धितायेदं मैत्रेयाय द्विजन्मने ।
ततः प्रचरितं पृथ्व्यामादृतं सादरं जनैः ॥

—उपसंहाराध्याय, श्लो. ८-९

इस प्रकार प्राचीन होरा ग्रन्थों से विलक्षण अनेक अध्यायों से युक्त अति श्रेष्ठ इस नवीन होराशास्त्र को संसार के हित के लिए महर्षि पराशर ने मैत्रेय को बतलाया। पश्चात् समस्त जगत् में इसका प्रचार हुआ और सभी ने इसका आदर किया। उडुदाय प्रदीप (लघुपाराशरी) का प्रणयन पराशर मुनिकृत होरा ग्रन्थ का अवलोकन कर ही किया गया है।

ऋषिपुत्र—यह जैन धर्मानुयायी ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके वंशादि का सम्यक् परिचय नहीं मिलता है, पर Catalogus Gatalagorum के अनुसार यह आचार्य गर्ग के पुत्र थे। गर्ग मुनि ज्योतिष के धुरन्धर विद्वान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनके सम्बन्ध में लिखा मिलता है—

जैन आसीज्जगद्वन्द्यो गर्गनामा महामुनिः ।
तेन स्वयं हि निर्णीतं यं सत्पाशात्रकेवली ॥
एतज्ज्ञानं महाज्ञानं जैनर्षिभिरुदाहृतम् ।
प्रकाश्य शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना ॥

सम्भवतः इन्हीं गर्ग के वंश में ऋषिपुत्र हुए होंगे। इनका नाम भी इस बात का साक्षी है कि यह किसी मुनि के पुत्र थे। ऋषिपुत्र का वर्तमान में एक निमित्तशास्त्र उपलब्ध है। इनके द्वारा रची गयी एक संहिता का भी मदनरत्न नामक ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है। इन आचार्य के उद्धरण बृहत्संहिता की भट्टोत्पली टीका में भी मिलते हैं।

ऋषिपुत्र का समय वराहमिहिर के पूर्व में है। इन्होंने अपने बृहज्जातक के २६वें अध्याय के ५वें पद्य में कहा है—**मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार।**" इसी परम्परा में ऋषिपुत्र हुए हैं। ऋषिपुत्र का प्रभाव वराहमिहिर की रचनाओं पर स्पष्ट लक्षित होता है। उदाहरण के लिए एक-दो पद्य दिये जाते हैं—

ससलोहिवण्णहोवरि संकुण हृत्ति होइ णायव्वो ।
संगामं पुण घोरं खग्गं सूरो णिवेदेई ॥

—ऋषिपुत्र

शशिरुधिरनिभे भानौ नभःस्थले भवन्ति संग्रामः ।

—वराहमिहिर

जे दिट्ठभुविरसण्ण जे दिट्ठा कहमेणकत्ताणं ।
सदसंकुलेन दिट्ठा वऊसट्ठिय ऐग बाणभिया ॥

—ऋषिपुत्र

भौमं चिरस्थिरभवं तच्छान्तिभिराहतं शममुपैति ।
नाभसमुपैति मृदुतां क्षरति न दिव्यं वदन्त्येके ॥

—वराहमिहिर

उपर्युक्त अवतरणों से ज्ञात होता है कि ऋषिपुत्र की रचनाओं का वराहमिहिर के ऊपर प्रभाव पड़ा है।

संहिता विषय की प्रारम्भिक रचना होने के कारण ऋषिपुत्र की रचनाओं में विषय की गम्भीरता नहीं है। किसी एक ही विषय पर विस्तार से नहीं लिखा है, सूत्र-रूप में प्रायः संहिता के प्रतिपाद्य सभी विषयों का निरूपण किया है। शकुनशास्त्र का निर्माण इन्होंने किया है, अपने निमित्तशास्त्र में इन्होंने पृथ्वी पर दिखाई देनेवाले, आकाश में दृष्टिगोचर होनेवाले और विभिन्न प्रकार के शब्द-श्रवण द्वारा प्रकट होनेवाले इन तीन प्रकार के निमित्तों द्वारा फलाफल का अच्छा निरूपण किया है। वर्षोत्पात, देवोत्पात, रजोत्पात, उल्कोत्पात, गन्धर्वोत्पात इत्यादि अनेक उत्पातों द्वारा शुभाशुभत्व की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से इनके निमित्तशास्त्र में मिलती है।

आर्यभट्ट प्रथम—ज्योतिष का क्रमबद्ध इतिहास आर्यभट्ट के समय से मिलता है। इनका जन्म ई. सन् ४७६ में हुआ था, इन्होंने ज्योतिष का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्यभटीय' लिखा है। इसमें सूर्य और तारों के स्थिर होने तथा पृथ्वी के घूमने के कारण दिन और रात होने का वर्णन है। पृथ्वी की परिधि ४९६७ योजन बतायी गयी है।

आर्यभट्ट ने सूर्य और चन्द्रग्रहण के वैज्ञानिक कारणों की व्याख्या की है। कालक्रियापाद में युग के समान २ भाग करके पूर्व भाग का उत्सर्पिणी और उत्तर भाग का अवसर्पिणी नाम बताया है तथा प्रत्येक के सुषमासुषमा, सुषमा आदि छह-छह भेद बताये हैं—

उत्सर्पिणी युगार्द्धं पश्चादवसर्पिणी युगार्द्धं च।
मध्ये युगस्य सुषमादावन्ते दुःषमाग्न्यंशात्॥

कालक्रियापाद में क्षेपक विधि से ग्रहों के स्पष्टीकरण की विधि विस्तार से बतलायी है तथा बुध, शुक्र को विलक्षण संस्कार से संस्कृत कर स्पष्ट किया है। गोलपाद में मेरु की स्थिति का सुन्दर वर्णन किया है तथा अक्षक्षेत्रों के अनुपात द्वारा लम्बज्या, अक्षज्या का साधन सुगमता से किया है।

आर्यभट्ट ने १, २, ३ आदि अंक संख्या के द्योतक क, ख, ग आदि वर्ण कल्पना किये हैं अर्थात् अ, आ इत्यादि स्वर वर्ण और क, ख, ग आदि व्यंजन वर्णों का १-१ संख्या वाचक अर्थ देकर बड़ी-बड़ी संख्याओं को प्रकाशित किया है। गीतिकापाद में कहा है—

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङ्मौ यः।
खद्विनवके स्वरा नववर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा॥

क = १, ख = २, ग = ३, घ = ४, ङ = ५, च = ६, छ = ७, ज = ८, झ = ९, ञ = १०, ट = ११, ठ = १२, ड = १३, ढ = १४, ण = १५, त = १६, थ = १७, द = १८, ध = १९, न = २०, प = २१, फ = २२, ब = २३, भ = २४, म = २५; य = ३०, र = ४०, ल = ५०, व = ६०, श = ७०, ष = ८०, स = ९०, ह = १००। क = १, कि = १००, कु = १००००, कृ = १००००००, क्लृ = १००००००००, के = १००००००००००, कै = १००००००००००००, को = १००००००००००००००, कौ = १००००००००००००००००, ख = २, खि = २००, खु = २००००, खृ = २००००००, ख्लृ = २००००००००, खे=२००००००००००, खै=२००००००००००००, खो = २००००००००००००००, खौ = २००००००००००००००००, इसी प्रकार आगे की अंक संख्याएँ दी गयी हैं।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् आर्यभट्ट की इस अंक संख्या पर से अनुमान करते हैं कि उन्होंने यह संख्याक्रम ग्रीकों से लिया है। चाहे जो हो, पर इतना निश्चित है कि आर्यभट्ट ने पटना में, जिसका प्राचीन नाम कुसुमपुर था, अपने अपूर्व ग्रन्थ की रचना की है।

इनकी गणितविषयक विद्वत्ता का निदर्शन यही है कि उन्होंने गणितपाद में वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल एवं व्यवहार श्रेणियों के गणित का सुन्दर विवेचन किया है।

अंगविज्जा—अंगविद्या भारतवर्ष में प्राचीनकाल से प्रसिद्ध रही है। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीन अंगविद्या के नियम संकलित हैं। अष्ट प्रकार के निमित्तज्ञान में अंग-निमित्त को प्रधान और महत्त्वपूर्ण बताया है। आचार्य ने लिखा है—

जधा णदीओ सव्वाओ ओवरंति महोदधिं।
एवं अंगोदधिं सव्वे णिमित्ता ओवरंति हि॥ १।६ पृ. १

अर्थात् जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छिन्न, भौम और अन्तरिक्षनिमित्त अंगनिमित्तरूपी समुद्र में मिल जाते हैं। इस ग्रन्थ के अध्ययन से जय-पराजय, लाभ-हानि, जीवन-मरण आदि की सम्यक् जानकारी प्राप्त की जा सकती है। बताया है—

अणुरत्तो जयं पराजयं वा राजमरणं वा आरोग्गं वा रण्णो आतंकं वा उवद्दवं वा मा पुण सहसा वियागरिज्ज णाणी। कामाऽकामं सुहदुक्खं जीवितं मरणं वा सुभिक्खं दुब्भिक्खं वा अणावुट्ठिं सुवुट्ठिं वा धणहाणिं अज्झप्पवित्तं वा कालपरिमाणं अंगहियं तत्तत्थणिच्छियमई सहसा उ ण वागरिज्ज णाणी। पृ. ७

यह ग्रन्थ साठ अध्यायों में समाप्त किया गया है। इसकी ग्रन्थसंख्या नौ हजार श्लोक प्रमाण है। गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया गया है। यह फलादेश का विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें हलन-चलन, रहन-सहन, चर्याचेष्टा प्रभृति मनुष्य की सहज प्रवृत्ति से निरीक्षण द्वारा फलादेश का निरूपण किया गया है। यह प्रश्नशास्त्र का ग्रन्थ है और प्रश्नकर्ता की विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर फलादेश का कथन करता है। अतएव गम्भीर अध्ययन के अभाव में वास्तविक फलादेश का निरूपण नहीं किया जा सकता है। ग्रन्थकर्ता ने अंगों के आकार-प्रकार, वर्ण, संख्या, तोल, लिंग, स्वभाव आदि की दृष्टि से उनको २७० विभागों में विभक्त किया है, विविध चेष्टाएँ, पर्यस्तिका, आमर्श, अपश्रय-आलम्बन, खड़े रहना, देखना, हँसना, प्रश्न करना, नमस्कार करना, संलाप, आगमन, रुदन, परिवेदन, क्रन्दन, पतन, अभ्युत्थान, निर्गमन, जँभाई लेना, चुम्बन, आलिंगन प्रभृति नाना चेष्टाओं का निरूपण कर फलादेश का प्रतिपादन किया गया है।

इस ग्रन्थ के नवम अध्याय में २७० विषयों का निरूपण किया है। प्रथम द्वार में शरीर-सम्बन्धी ७५ अंगों के नाम और उनका फलादेश वर्णित है। यथा—

एताणि आमसं पुच्छे अत्थलाभं जयं तधा।
पराजयं वा सत्तूणं मित्तसंपत्तिमेव य॥ ९।८ पृ. ६०
समागमं घरावासं थाणमिस्सरियं जसं।
णिव्वुत्तिं वा पतिट्ठं वा भोगलाभं सुहाणि य॥ ९।९ पृ. ३०

दासी-दासं जाण-जुग्गं गो-माहिसमदयाविलं ।

धण-धण्णं खेत्त-वत्थुं च विज्जा संपत्तिमेव य ॥ ९ । १० पृ. ६०

मस्तक, सिर, सीमन्तक, ललाट, नेत्र, कान, कपोल, ओष्ठ, दाँत, मुख, मसूड़ा, कन्धा, बाहु, मणिबन्ध, हाथ, पैर प्रभृति ७५ अंगों का एक बार स्पर्श कर प्रश्नकर्ता प्रश्न करे तो अर्थलाभ, जय, शत्रुओं के पराजय, मित्र-सम्पत्ति प्राप्ति, समागम, घर में निवास, स्थानलाभ, यशप्राप्ति, निवृत्ति, प्रतिष्ठा, भोगप्राप्ति, सुख, दासी-दास, यान--सवारी, गाय-भैंस, धन-धान्य, क्षेत्र, वास्तु, विद्या एवं सम्पत्ति आदि की प्राप्ति होती है। उक्त अंगों का एक बार से अधिक स्पर्श करे तो फल विपरीत होता है। वस्त्र और आभूषणों के स्पर्श का फलादेश भी वर्णित है। इस सन्दर्भ में विभिन्न प्रकार के मनुष्य, देवयोनि, नक्षत्र, चतुष्पद, पक्षी, मत्स्य, वृक्ष, गुल्म, पुष्प, फल, वस्त्र, आभूषण, भोजन, शयनासन, भाण्डोपकरण, धातु, मणि एवं सिक्कों के नामों की सूचियाँ दी गयी हैं। वस्त्रों में पटशाटक, क्षौम, दुकूल, चीनांशुक, चीनपट्ट, प्रावार, शाटक, श्वेतशाट, कौशेय और नाना प्रकार के कम्बलों का उल्लेख आया है। पहनने के वस्त्रों में उत्तरीय, उष्णीष, कंचुक, वारबाण, सन्नाहपट्ट, वितानक, पच्छत--पिछौरी एवं मल्लसाडक--पहलवानों के लंगोट का उल्लेख है। आभूषणों की नामावली विशेष रोचक है। किरीट और मुकुट सिर पर पहनने के आभूषण हैं। सिंहभण्डक वह सुन्दर आभूषण था जिसमें सिंह के मुख की आकृति बनी रहती थी और उस मुख में से मोतियों के झुग्गे लटकते हुए दिखाये जाते थे। गरुड़ की आकृतिवाला आभूषण गरुडक और दो मकरमुखों की आकृतियों को मिलाकर बनाया गया आभूषण मगरक कहलाता था। इसी प्रकार बैल की आकृतिवाला वृषभक, हाथी की आकृतिवाला हत्थिक और चक्रवाक मिथुन की आकृतिवाला चक्रमिथुनक कहलाता था। इन वस्त्र और आभूषणों के स्पर्श और अवलोकन से विभिन्न प्रकार के फलादेश वर्णित हैं।

५५वें अध्याय में पृथ्वी के भीतर निहित धन को जानने की प्रक्रिया वर्णित है। "**तत्थ अत्थि णिधितं ति पुव्वमाधारिते णिधितमट्ठविधमादिसे। तं जधा–मिण्णसतपमाणं मिण्णसहस्सपमाणं सयसहस्सपमाणं कोडिपमाणं अपरिमियपमाणमिति। कायमंतेसु उम्मट्ठेसु परिमियणिहाणं बूया। तत्थं अपुण्णामेसु अब्मंतरामासे दढामासे सिद्धमासे सुद्धामासे पुण्णामासे य समं बूया। मिण्णे दसक्खे पुव्वावाधारिते दो वा चत्तारि वा अट्ठ वा बूया। समे पुव्वाधारिते दसक्खेवीसं वा [चत्तालीसं वा] सट्ठिं वा बूया।**"--पृ. २१३। स्पष्ट है कि पृथ्वी में निहित निधि का आनयन एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न जानकारी प्रश्नों के द्वारा की जा सकती है। निधि की प्राप्ति किस देश में होगी, इसका विचार भी किया गया है। नष्ट धन के आनयन का विचार ५७वें अध्याय में किया है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण आदि के विचार द्वारा नष्टकोष का विचार किया गया है। इस ग्रन्थ की प्रश्नप्रक्रिया एक प्रकार से शकुन और चर्या-चेष्टा पर अवलम्बित है। प्रसंगवश दी गयी विभिन्न सूचियों के आधार से संस्कृति और सभ्यता की अनेक महत्त्व-

पूर्ण बातें जानी जा सकती हैं। बरतन, भोजन, भक्ष्य पदार्थ, वस्त्राभूषण, सिक्के प्रभृति का विस्तारपूर्वक निर्देश किया है। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में 'सटीक अंगविद्या-शास्त्र' दिया गया है। इसमें अंग-प्रत्यंग के स्पर्शनपूर्वक शुभाशुभ फलों का निरूपण किया है। संस्कृत में श्लोक लिखे गये हैं और टीका भी संस्कृत में निबद्ध है। ४४ पद्य हैं और टीका में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें लिखी गयी हैं। इस छोटे-से ग्रन्थ का विषय प्राचीन है, पर भाषा-शैली प्राचीन प्रतीत नहीं होती। इसके रचयिता का भी नाम ज्ञात नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि अंगविद्या भारत का पुरातन ज्ञान है। ग्रन्थ के आरम्भ में टीका में बताया है—

"कालोऽन्तरात्मा सर्वदा सर्वदर्शी शुभाशुभः फलसूचकैः सविशेषेण प्राणिनामपराङ्गेषु स्पर्श-व्यवहारेङ्गितचेष्टादिभिर्निमित्तैः फलमभिदर्शयति ॥"

अर्थात्—अंगस्पर्श, व्यवहार और चर्या-चेष्टादि के द्वारा शुभाशुभ फल का निरूपण किया गया है। इस लघुकाय ग्रन्थ में अंगों की विभिन्न संज्ञाओं के उपरान्त फलादेश निबद्ध किया गया है।

कालकाचार्य—यह निमित्त और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने अपनी प्रतिभा से शककुल के साहि को स्ववश किया था तथा गर्दभिल्ल को दण्ड दिया था, जैन परम्परा में ज्योतिष के प्रवर्तकों में इनका मुख्य स्थान है, यदि यह आचार्य निमित्त और संहिता का निर्माण न करते तो उत्तरवर्ती जैन लेखक ज्योतिष को पापश्रुत समझकर अछूता ही छोड़ देते।

कालक कथाओं से पता चलता है कि यह मध्य देशान्तर्गत, 'धारावास' नामक नगर के राजा वयरसिंह के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुरसुन्दरी और बहन का नाम सरस्वती था। एक बार यह घोड़े पर वन में घूमने गये, वहाँ इनकी जैन मुनि गुणाकर से मुलाकात हुई और उनका धर्मोपदेश सुनकर संसार से विरक्त हो गये और बहुत समय तक जैन शास्त्रों का अभ्यास करते रहे तथा थोड़े समय के पश्चात् आचार्य पद को प्राप्त हुए। पाटन (उत्तर गुजरात) के एक ताड़पत्रीय पुस्तक भण्डार में ताड़पत्र पर लिखे गये एक प्रकरण में एक प्राकृत गाथा मिली है, जिसमें बताया गया है कि—"कालक सूरि ने प्रथमानुयोग में जिन, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के चरित्र और उनके पूर्व भवों का वर्णन किया है। तथा लोकानुयोग में बहुत बड़े निमित्तशास्त्र की रचना की है।" भोजसागर गणि नामक विद्वान् ने संस्कृत भाषा में रमल विद्या-विषयक एक ग्रन्थ लिखा है, उसमें उन्होंने कालकाचार्य द्वारा यवन देश से लायी गयी इस विद्या को बताया है। इस घटना में चाहे तथ्य हो या नहीं, पर इतना स्पष्ट है कि ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के ज्योतिर्विदों में इनका गौरवपूर्ण स्थान था। वराहमिहिराचार्य ने बृहज्जातक में कालकसंहिता का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने एक संहिता ग्रन्थ भी लिखा था, जो आज उपलब्ध नहीं है, पर निशीथचूर्णि, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थों से इनके ज्योतिष-ज्ञान का पता सहज में लगाया जा सकता

है। ईसवी सन् की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के मध्य में होनेवाले आचार्य उमास्वामी भी ज्योतिष के आवश्यक सिद्धान्तों से अभिज्ञ थे।

द्वितीय आर्यभट्ट—इनका सिद्धान्त 'महाआर्यभट्टीय' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'महाआर्यसिद्धान्त' भी बताया जाता है। इसमें १८ अध्याय एवं ६२५ आर्या—उपगीति हैं; पाटीगणित, क्षेत्र-व्यवहार और बीजगणित भी इसमें सम्मिलित हैं। पराशर सिद्धान्त से इसमें ग्रह भगण लिये हैं। इसने प्रथम आर्यभट्ट के सिद्धान्त में कई तरह से संशोधन किया है। कुछ लोग द्वितीय आर्यभट्ट का काल ब्रह्मगुप्त के बाद बतलाते हैं, पर निश्चित प्रमाण के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता है। भास्कराचार्य ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि के स्पष्टाधिकार में द्रेष्काणोदय आर्यभट्टीय का दिया है, अतः यह भास्कर के पूर्ववर्ती हैं, इतना निश्चित है। महाआर्यसिद्धान्त ज्योतिष की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी परम्परा पीछे के अनेक ज्योतिर्विदों ने अपनायी है। इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं, पर इनके पाण्डित्य का अनुमान महाआर्यसिद्धान्त से किया जा सकता है।

लल्लाचार्य—इनके पिता का नाम भट्टत्रिविक्रम और पितामह का नाम शाम्ब था। लल्लाचार्य के गुरु का नाम प्रथम आर्यभट्ट बताया गया है। इनका जन्म शक सं. ४२१ में हुआ था। इन्होंने अपने 'शिष्यधीवृद्धि' नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना आर्यभट्ट की परम्परा को लेकर की है—

आचार्यार्यभटोदितं सुविषमं व्योमौकसां कर्म य-
च्छिष्याणामभिधीयते तदधुना लल्लेन धीवृद्धिदम् ॥
विज्ञाय शास्त्रमलमार्यभटप्रणीतं तन्त्राणि यद्यपि कृतानि तदीयशिष्यैः।
कर्मक्रमो न खलु सम्यगुदीरितस्तैः कर्म ब्रवीम्यहमतः क्रमशस्तु सूक्ष्मम् ॥

लल्लाचार्य गणित, जातक और संहिता इन तीनों स्कन्धों में पूर्ण प्रवीण थे। यद्यपि यह आर्यभट्ट के सिद्धान्तों को लेकर चले हैं, पर तो भी अनेक विशेष विषय इनके ग्रन्थों में पाये जाते हैं। शिष्यधीवृद्धि में प्रधान रूप से गणिताध्याय और गोलाध्याय, ये दो प्रकरण हैं। गणिताध्याय में मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, पर्वसम्भवाधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, भग्रहयुत्यधिकार, महापाताधिकार और उत्तराधिकार नामक उपप्रकरण हैं। गोलाध्याय में छेदाधिकार, गोलबन्धाधिकार, मध्यगतिवासना, भूगोलाध्याय, ग्रहभ्रमसंस्थाध्याय, भुवनकोश मिथ्याज्ञानाध्याय, यन्त्राध्याय और प्रश्नाध्याय नामक उपप्रकरण हैं। इनका 'रत्नकोष' नामक संहिता ग्रन्थ भी मिलता है। भास्कराचार्य ने यद्यपि इनके सिद्धान्तों का खण्डन किया है, पर तो भी इनकी विद्वत्ता का लोहा उन्होंने मानने से इनकार नहीं किया है।

त्रिस्कन्धविद्याकुशलैकमल्लो लल्लोऽपि यत्राप्रतिमो बभूव।
यातेऽपि किंचिद् गणिताधिकारे पाताधिकारे गमनाधिकारः ॥

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है कि भास्कराचार्य भी लल्ल की विद्वत्ता के क़ायल थे।

यदि सूक्ष्मनिरीक्षण द्वारा भास्कर की रचनाओं का परीक्षण किया जाये तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि लल्लाचार्य की अनेक बातें ज्यों की त्यों अपना ली गयी हैं। उत्क्रमज्या द्वारा साधित ग्रहप्रणाली इनकी मौलिक विशेषता है।

पूर्वमध्यकाल (ई. ५०१-१००० तक)

सामान्य परिचय

इस युग में ज्योतिषशास्त्र उन्नति की चरम सीमा पर था। वराहमिहिर-जैसे अनेक धुरन्धर ज्योतिर्विद् हुए, जिन्होंने इस विज्ञान को क्रमबद्ध किया तथा अपनी अद्वितीय प्रतिभा द्वारा अनेक नवीन विषयों का समावेश किया। इस युग के प्रारम्भिक आचार्य वराहमिहिर या वराह हैं, जिन्होंने अपने पूर्वकालीन प्रचलित सिद्धान्तों का पंचसिद्धान्तिका में संग्रह किया। इस काल में ज्योतिष के सिद्धान्त, संहिता और होरा ये तीन भेद प्रस्फुटित हो गये थे। ग्रहगणित के क्षेत्र में सिद्धान्त, तन्त्र एवं करण इन तीन भेदों का प्रचार भी होने लग गया था। सिद्धान्तगणित में कल्पादि से, तन्त्र में युगादि से और करण में शकाब्द पर से अहर्गण बनाकर ग्रहादि का आनयन किया जाता है। सिद्धान्त में जीवा और चाप के गणित द्वारा ग्रहों का फल लाकर आनीत मध्यमग्रह में संस्कार कर देते हैं तथा भौमादि ग्रहों का मन्द और शीघ्रफल लाकर मन्दस्पष्ट और स्पष्ट मान सिद्ध करते हैं।

इस काल में उदयास्त, युति, शृंगोन्नति आदि का गणित भी प्रचलित हो गया था। ब्रह्मपुत्र और महावीराचार्य ने गणित विषय के अनेक सिद्धान्तों को साहित्य का रूप प्रदान किया। महावीराचार्यकी असीमाबद्ध संख्याओं के समाधान की क्रिया बड़ी विलक्षण है। उपर्युक्त दोनों आचार्यों के बीजगणित-विषयक सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि इस युग में—(१) ऋण राशियों के समीकरण की कल्पना, (२) वर्ग समीकरण को हल करना, (३) एक वर्ग, अनेक वर्ग समीकरण कल्पना, (४) वर्ग, घन और अनेक घातसमीकरणों को हल करना, (५) अंकपाश, संख्या के एकादि भेद और कुट्टक के नियम, (६) केन्द्रफल को निकालना, (७) असीमाबद्ध समीकरण, (८) द्वितीय स्थान की राशियों का असीमाबद्ध समीकरण, (९) अर्द्धच्छेद, त्रिकच्छेद आदि लघुरिक्थ सम्बन्धी गणित, (१०) अभिन्न राशियों का भिन्न राशियों के रूप में परिवर्तन करना आदि सिद्धान्त प्रचलित थे।

पूर्वमध्यकाल में अंकगणित के भी निम्न सिद्धान्त आविष्कृत हो चुके थे—

(१) अभिन्न गुणन, (२) भागहार, (३) वर्ग, (४) वर्गमूल, (५) घन, (६) घनमूल, (७) भिन्न-समच्छेद, (८) भागजाति, (९) प्रभागजाति, (१०) भागानुबन्ध, (११) भागमातृजाति, (१२) त्रैराशिक, (१३) पंचराशिक, (१४) सप्तराशिक, (१५) नवराशिक, (१६) भाण्ड-प्रतिभाण्ड, (१७) मिश्र-व्यवहार,

(१८) सवर्ण गणित, (१९) प्रक्षेपक गणित, (२०) समक्रय-विक्रय गणित, (२१) श्रेणीव्यवहार, (२२) क्षेत्रव्यवहार, (२३) छायाव्यवहार, (२४) स्वांशानुबन्ध, (२५) स्वांशापवाह, (२६) इष्टकर्म, (२७) द्वीष्टकर्म, (२८) चितिघन, (२९) घनातिघन, (३०) एकपत्रीकरण एवं (३१) वर्गप्रकृति आदि सिद्धान्तों का अंकगणित में प्रयोग होने लग गया था।

रेखागणित के भी अनेक सिद्धान्तों का प्रयोग उस काल में व्यापक रूप से होता था। तथा इस विषय का वर्णन इस युग के प्रायः सभी ज्योतिर्विदों ने विस्तार से किया है। सिद्धान्त गणित, जिसके लिए जीवा-चाप के गणित की नितान्त आवश्यकता होती है और जिसका प्रचार आदिकाल से ही चला आ रहा था, इस युग में उसमें अनेक संशोधन किये गये। लल्लाचार्य ने उत्क्रमज्या द्वारा ही ग्रहगणित का साधन किया था, पर इस काल के आचार्यों ने यूनान और ग्रीस के सम्पर्क से क्रमज्या, कोटिज्या, कोट्युत्क्रमज्या आदि द्वारा ग्रहगणित का साधन किया। पूर्वमध्यकाल के ज्योतिष-साहित्य में रेखागणित के निम्न सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है—

१. समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग दोनों भुजाओं के जोड़ के बराबर होता है।

२. दिये हुए दो वर्गों का योग अथवा अन्तर के समान वर्ग बनाना।

३. आयत को वर्ग या वर्ग को आयत में बदलना।

४. करणों द्वारा राशियों का वास्तविक वर्गमूल निकालना।

५. वृत्त को वर्ग और वर्ग को वृत्तों में बदलना।

६. शंकु और वर्तुल के घनफल निकालना।

७. विषमकोण चतुर्भुज के कर्णानयन की विधि और उसके दोनों कर्णों के ज्ञान से भुज-साधन करना।

८. त्रिभुज, विषमकोण, चतुर्भुज और वृत्त का क्षेत्रफल निकालना।

९. सूचीव्यास, वलयव्यास और वृत्तान्तर्गत वृत्त का व्यास निकालना।

१०. वृत्तपरिधि, वृत्तसूची और उसके घनफल को निकालना।

रेखागणित और भूमिति गणित के साथ-साथ कोणमिति के ज्योतिषत्रिविषयक गणितों का प्रचार भी ई. सन् ७००-८०० के मध्य में हुआ था तथा ब्रह्मगुप्त ने इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त निर्धारित कर त्रिकोणमिति गणित को ग्रहसाधन के लिए व्यवहृत किया था।

बृहत्संहिता में दैवज्ञ की विद्वत्ता की समालोचना करते हुए लिखा है—

तत्र ग्रहगणिते पौलिशरोमकवासिष्ठसौरपैतामहेषु पञ्चस्वेतेषु सिद्धान्तेषु युगवर्षायनर्तुमासपक्षाहोरात्रयाममुहूर्त्तनाडीविनाडीप्राणत्रुटित्रुट्यवयवाद्यस्य कालस्य क्षेत्रस्य च वेत्ता।

चतुर्णां च मासानां सौरसावननाक्षत्रचान्द्राणामधिमासकावमसंभवस्य च कारणाभिज्ञः।

षष्ठ्यब्दयुगवर्षमासदिनहोराधिपतीनां प्रतिपत्तिविच्छेदवित् ।
सौरादीनां च मानानां सदृशासदृशयोग्यायोग्यत्वप्रतिपादनपटुः ॥

सिद्धान्तभेदेऽप्ययननिवृत्तौ प्रत्यक्षं सममण्डलरेखासंप्रयोगाभ्युदितांशकानां च छायाजलयन्त्रदृग्गणितसाम्येन प्रतिपादनकुशलः । सूर्यादीनां च ग्रहाणां शीघ्रमन्द-याम्योत्तरनीचोच्चगतिकारणाभिज्ञः ।

अर्थात्—पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर, पितामह इन पाँचों सिद्धान्त सम्बन्धी युग, वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र, प्रहर, मुहूर्त, घटी, पल, प्राण, त्रुटि और त्रुटि के सूक्ष्म अवयव काल विभाग; कला, विकला, अंश और राशि रूप सूक्ष्म क्षेत्रविभाग; सौर, सावन, नाक्षत्र और चान्द्र मास, अधिमास तथा क्षयमास का सोपपत्तिक विवरण; सौर एवं चान्द्र दिनों का यथार्थ मान और प्रचलित मान्यताओं के परीक्षण का विवेक; सम-मण्डलीय छायागणित; जलयन्त्र द्वारा दृग्गणित; सूर्यादि ग्रहों की शीघ्रगति, मन्दगति, दक्षिणगति, उत्तरगति, नीच और उच्च गति तथा उनकी वासनाएँ, सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण में स्पर्श और मोक्षकाल; स्पर्श और मोक्ष की दिशा; ग्रहण की स्थिति, विमर्द, वर्ण और देश; ग्रहयुति, ग्रहस्थिति, ग्रहों की योजनात्मक कक्षाएँ; पृथ्वी, नक्षत्र आदि का भ्रमण; अक्षांश, लम्बांश, द्युज्या, चरखण्डकाल, राशियों के उदयमान एवं छायागणित आदि विभिन्न विषयों में पारंगत ज्योतिषी को होना आवश्यक बताया गया है ।

उपर्युक्त वाराही संहिता के विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भ में ही ग्रहगणित उन्नति की चरम सीमा पर था । ई. सन् ६०० में इस शास्त्र के साहित्य का निर्माण स्वतन्त्र आकाश-निरीक्षण के आधार पर होने लग गया था । आदिकालीन ज्योतिष के सिद्धान्तों को परिष्कृत किया जाने लगा था ।

फलित ज्योतिष—पूर्वमध्यकाल में फलित ज्योतिष के संहिता और जातक अंगों का साहित्य अधिक रूप से लिखा गया है । राशि, होरा, द्रेष्काण, नवांश, द्वादशांश; त्रिंशांश, परिग्रहण स्थान, कालबल, चेष्टाबल, ग्रहों के रंग, स्वभाव, धातु, द्रव्य, जाति, चेष्टा, आयुर्दाय, दशा, अन्तर्दशा, अष्टकवर्ग, राजयोग, द्विग्रहादियोग, मुहूर्तविज्ञान, अंग-विज्ञान, स्वप्नविज्ञान, शकुन एवं प्रश्नविज्ञान आदि फलित के अंगों का समावेश होरा शास्त्र में होता था । संहिता में सूर्यादि ग्रहों की चाल, उनका स्वभाव, विकार, प्रमाण, वर्ण, किरण, ज्योति, संस्थान, उदय, अस्त, मार्ग, पृथक् मार्ग, वक्र, अनवक्र, नक्षत्र-विभाग और कूर्म का सब देशों में फल, अगस्त्य की चाल, सप्तर्षियों की चाल, नक्षत्र-व्यूह, ग्रह-शृंगाटक, ग्रहयुद्ध, ग्रहसमागम, परिवेष, परिघ, वायु, उल्का, दिग्दाह, भूकम्प, गन्धर्वनगर, इन्द्रधनुष, वास्तुविद्या, अंगविद्या, वायसविद्या, अन्तरचक्र, मृगचक्र, अश्वचक्र, प्रासाद-लक्षण, प्रतिमालक्षण, प्रतिमाप्रतिष्ठा, घृतलक्षण, कम्बललक्षण, खड्गलक्षण, पट्टलक्षण, कुक्कुटलक्षण, कूर्मलक्षण, गोलक्षण, अजालक्षण, अश्वलक्षण, स्त्री-पुरुषलक्षण एवं साधा-रण, असाधारण सभी प्रकार के शुभाशुभों का विवेचन अन्तर्भूत होता था । कहीं-कहीं पर तो कुछ विषय होरा के—स्वप्न और शकुन संहिता में गर्भित किये गये हैं । इस युग का

फलित ज्योतिष केवल पंचांग ज्ञान तक ही सीमित नहीं था, किन्तु समस्त मानव जीवन के विषयों की आलोचना और निरूपण करना भी इसी में शामिल था।

ईसवी सन् ५०० के लगभग ही भारतीय ज्योतिष का सम्पर्क ग्रीस, अरब और फ़ारस आदि देशों के ज्योतिष के साथ हुआ था। वराहमिहिर ने यवनों के सम्बन्ध में लिखा है कि—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥

अर्थात्—म्लेच्छ—कदाचारी यवनों के मध्य में ज्योतिषशास्त्र का अच्छी तरह प्रचार है, इस कारण वे भी ऋषि-तुल्य पूजनीय हैं; इस शास्त्र का जाननेवाला द्विज हो तो बात ही क्या?

इससे स्पष्ट है कि वराहमिहिर के पूर्व यवनों का सम्पर्क ज्योतिष-क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान था। ईसवी सन् ७७१ में भारत का एक जत्था बग़दाद गया था और उन्हीं में से एक विद्वान् ने 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' का व्याख्यान किया था। अरब में इस ग्रन्थ का अनुवाद 'अस सिन्द हिन्द' नाम से हुआ है। इब्राहीम इब्रहबीब अलफ़ज़ारी ने इस ग्रन्थ के आधार पर मुसलिम चान्द्रवर्ष के स्पष्टीकरण के लिए एक सारणी बनायी थी। अरब में और भी कई विद्वान् ज्योतिष के प्रचार के लिए गये थे, जिससे वहाँ भारत के युगमान के अनुकरण पर हज़ारों-लाखों वर्षों की युगप्रणाली की कल्पना कर ग्रन्थ लिखे गये।

भारत का ग्रीस के साथ ईसवी सन् १०० के लगभग ही सम्पर्क हो गया था; जिससे ज्योतिषशास्त्र में परस्पर में बहुत आदान-प्रदान हुआ। भारतीय ज्योतिष में अक्षांश, देशान्तर, चरसंस्कार और उदयास्त की सूक्ष्म विवेचना मुसलिम और ग्रीक सभ्यता के सम्पर्क से इस युग में विशेष रूप से हुई। पर सिद्धान्त और संहिता इन दो अंगों को साहित्यिक रूप प्रदान करने का सौभाग्य भारत को ही है। यद्यपि जातक अंग को जन्म इस देश ने दिया था, पर लालन-पालन में विदेशी सभ्यता का रंग चढ़ने से भारत माँ की गोद में पलने पर भी कुल संस्कार पूर्वमध्यकाल में ग्रीक लोगों के पड़ गये, जो आज तक अक्षुण्ण रूप से चले आ रहे हैं।

आज के कुछ विद्वान् ईसवी सन् ६००—७०० के लगभग भारत में प्रश्न अंग का ग्रीक और अरबों के सम्पर्क से विकास हुआ बतलाते हैं तथा इस अंग का मूलाधार भी उक्त देशों के ज्योतिष को मानते हैं, पर यह ग़लत मालूम पड़ता है। क्योंकि जैन ज्योतिष जिसका महत्त्वपूर्ण अंग प्रश्नशास्त्र है, ईसवी सन् की चौथी और पाँचवीं शताब्दी में पूर्ण विकसित था। इस मान्यता में भद्रबाहुविरचित अर्हच्चूडामणिसार प्रश्नग्रन्थ प्राचीन और मौलिक माना गया है। आगे के प्रश्नग्रन्थों का विकास इसी ग्रन्थ की मूल भित्ति पर हुआ प्रतीत होता है।

जैन मान्यता में प्रचलित प्रश्न-शास्त्र का विश्लेषण करने से प्रतीत होता है कि

इसका बहुत कुछ अंश मनोविज्ञान के अन्तर्गत ही आता है। ग्रीकों से जिस प्रश्न-शास्त्र को भारत ने ग्रहण किया है, वह उपर्युक्त प्रश्न-शास्त्र से विलक्षण है।

ईसवी सन् की ७वीं और ८वीं सदी के मध्य में 'चन्द्रोन्मीलन' नामक प्रश्न-ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध था, जिसके आधार पर 'केरल प्रश्न' का आविष्कार भारत में हुआ है। अतएव यह मानना पड़ेगा कि प्रश्न अंग का जन्म भारत में हुआ और उसकी पुष्टि ईसवी सन् ७००—९०० तक के समय में विशेष रूप से हुई।

उद्योतन सूरि की कृति कुवलयमाला में ज्योतिष और सामुद्रिकविषयक पर्याप्त निर्देश पाया जाता है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल शक संवत् ७०० में एक दिन न्यून है अर्थात् शक संवत् ६९९ चैत्र कृष्णा चतुर्दशी को समाप्त किया गया है। उद्योतन ने द्वादश राशियों में उत्पन्न नर-नारियों के भविष्य का निरूपण करते हुए लिखा है—

णिच्चं जो रोगभागी णरवइ-सयणे पूइओ चक्खुलोलो,
धम्मत्थे उज्जमंतो सहियण-वलिओ ऊरुजंघो कयण्णू।
सूरो जो चंडकम्मे पुणरवि मउओ वल्लहो कामिणीणं,
जेट्ठो सो भाउयाणं जल-णिचय-महा-भीरुओ मेस-जाओ॥

—कुवलयमाला, पृ. १९

अर्थात्—मेष राशि में उत्पन्न हुआ व्यक्ति रोगी, राजा और स्वजनों से पूजित, चंचल नेत्र, धर्म और अर्थ की प्राप्ति के लिए उद्योगशील, मित्रों से विमुख, स्थूल जाँघवाला, कृतज्ञ, शूरवीर, प्रचण्ड कर्म करनेवाला, अल्पधनी, स्त्रियों का प्रिय, भाइयों में बड़ा, एवं जलसमूह—नदी, समुद्र आदि से भीत रहनेवाला होता है।

अट्ठारस-पणुवीसो चुक्को सो कह वि मरइ सय-वरिसो।
अंगार-चोद्दसीए कित्तिय तह अद्ध-रत्तम्मि॥—वही, पृ. १९

मेष राशि में जन्मे व्यक्ति को १८ और २५ वर्ष की अवस्था में अल्पमृत्यु का योग आता है। यदि ये दोनों अकालमरण निकल जाते हैं तो सौ वर्ष की आयु में मरणकाल आता है और कार्तिक मास की शुक्ला चतुर्दशी की मध्यरात्रि में मरण होता है।

वृष राशि में जन्म लिये हुए व्यक्तियों का फलादेश बतलाते हुए लिखा है—

भोगी अत्थस्स दाया पिहुल-गल-महा-गंडवासो सुमित्तो
दक्खो सच्चो सुई जो सललिय-गमणो दुट्ठ-पुत्तो कलत्तो।
तेयंसी भिच्च-जुत्तो पर-जुवइ-महाराग-रत्तो गुरूणं
खंडे खंधे व्व चिण्हं कुजण-जण-पिओ कंठ-रोगी विसम्मि॥
चुक्को चउप्पयाओ पणुवीसो मरइ सो सयं पत्तो।
मग्गसिर-पहर-सेसे-बुह-रोहिणि पुण्ण-खेत्तमि॥—वही, पृ. १९

वृष राशि में उत्पन्न हुआ व्यक्ति भोगी, धन देनेवाला, स्थूल गलेवाला, बड़े-बड़े गालवाला—कपोलवाला, अच्छे मित्रवाला, दक्ष, सत्यवादी, शुचि, लीला-

पूर्वक गमन करनेवाला, दुष्ट, पुत्र-स्त्रीवाला, तेजस्वी, भृत्ययुक्त, परस्त्रियों का अनुरागी, कन्धे और गले पर तिल या मस्से के चिह्न से युक्त तथा लोगों के लिए प्रिय होता है। इसका चतुष्पद—पशु आदि के कारण से पचीस वर्ष की अवस्था में अकाल-मरण सम्भव होता है। यदि इस अकालमरण से बच गया तो मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष में बुधवार रोहिणी नक्षत्र में सौ वर्ष की आयु में किसी पुण्य क्षेत्र में इसका मरण होता है।

इसी प्रकार अन्य राशियों में जन्मग्रहण किये हुए व्यक्तियों का फलादेश भी इस ग्रन्थ में वर्णित है। इस फलादेश की सत्यतासत्यता के सम्बन्ध में बताया है—**"जइ रासी बलिओ रासी-सामी-गहो तहेव, सव्व सच्चं। अह पुण ण बलिया कूरगह-णिरिक्खिया य होंति ता किंचि सच्चं किंचि मिच्छं"** ति। अर्थात् राशि और राशीश के बलवान् होने पर पूर्वोक्त सभी फल सत्य होता है। यदि राशि और राशीश बलवान् न हों और क्रूरग्रह की राशि हो या राशीश भी क्रूर हो अथवा पाप ग्रह से वह राशि और राशीश दृष्ट हो तो फलादेश कुछ सत्य और कुछ मिथ्या होता है।

सामुद्रिक शास्त्र के सम्बन्ध में बताया है—

पुव्व-कय-कम्म-रइयं सुहं च दुक्खं च जायए देहे।
तत्थ वि य लक्खणाइं तेणेमाइं णिसामेह॥
अंगाइं उवंगाइं अंगोवंगाइं तिण्णि देहम्मि।
ताणं सुहमसुहं वा लक्खणमिणमो णिसामेहि॥
लक्खिज्जइ जेण सुहं दुक्खं च णराण दिट्ठि-मेत्ताणं।
तं लक्खणं ति भणियं सव्वेसु वि होइ जीवेसु॥
रत्तं सिणिद्ध-मउयं पाय-तलं जस्स होइ पुरिसस्स।
ण य सेयणं ण वंकं सो राया होइ पुहईए॥
ससि-सूर-वज्ज-चक्कंकुसे य संखे च होज्ज छत्तं वा।
अह-वुड्ढ-सिणिद्धाओ रेहाओ होंति णरवइणो॥
भिण्णा संपुण्णा वा संखाइं देंति पच्छिमा भोगा।
अह खर-वराह-जंबुय-लक्खंका दुक्खिया होंति॥
वट्टे पायंगुट्ठे अणुकूला होइ मारिया तस्स।
अंगुलि-पमाण-मेत्ते अंगुट्ठे मारिया दुइया॥
जइ मज्झिमाएँ सरिसो कुलवुड्ढी अह अणामिया सरिसो।
सो होइ जमल-जणओ पिउणो मरणं कणिट्ठीए॥
पिहुलंगुट्ठे पहिओ विणयग्गेणं च पावए विरहं।
भग्गेण णिच्च-दुहिओ जह भणियं लक्खणण्णूहिं॥

—कुवलयमाला, पृ. १२०, प्रघट्टक २१६

पूर्वोपार्जित कर्मों के कारण जीवधारियों को सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। इस सुख-दुःखादि को लक्षणों के द्वारा जाना जा सकता है। शरीर में अंग, उपांग और अंगोपांग ये तीन होते हैं, इन तीनों के लक्षण कहे जाते हैं। जिसके द्वारा मनुष्यों के सुख-दुःख अवलोकनमात्र से जाने जायें, उसे लक्षण कहते हैं। जिस मनुष्य के पैर का तलवा लाल, स्निग्ध और मृदुल हो तथा स्वेद और वक्रता से रहित हो तो वह इस पृथ्वी का राजा होता है। पैर में चन्द्रमा, सूर्य, वज्र, चक्र, अंकुश, शंख और छत्र के चिह्न होने पर व्यक्ति राजा होता है। स्निग्ध और गहरी रेखाएँ भी नृपति के पैर के तलवे में होती हैं। शंखादि चिह्न भिन्न अपूर्ण या अस्पष्ट अथवा पूर्ण-स्पष्ट हों तो उत्तरार्द्ध अवस्था में सुख-भोगों की प्राप्ति होती है। खर–गर्दभ, वराह–शूकर, जम्बुक–शृगाल की आकृति के चिह्न हों तो व्यक्ति को कष्ट होता है। समान पदांगुष्ठों के होने पर मनोनुकूल पत्नी की प्राप्ति होती है। अँगुली के समान अँगूठे के होने पर दो पत्नियों की प्राप्ति होती है। यदि मध्यमा अँगुली के समान अँगूठा हो तो कुलवृद्धि होती है। अनामिका के समान अँगूठा के होने पर यमल सन्तान की प्राप्ति एवं कनिष्ठा के समान होने पर पिता की मृत्यु होती है। स्थूल अँगूठा होने पर पथिक—यात्रा करनेवाला होता है। आगे की ओर अँगूठा के झुका रहने पर विरह वेदना का कष्ट होता है। भग्न अँगूठा के होने पर नित्य दुःख की प्राप्ति होती है।

जिस व्यक्ति की तर्जनी अँगुली दीर्घ होती है, वह व्यक्ति महिलाओं द्वारा सर्वदा तिरस्कृत किया जाता है। वह नाटा होता है, कलहप्रिय होता है और पिता-पुत्र से रहित होता है। जिसकी मध्यमा अँगुली दीर्घ होती है, उसके धन का विनाश होता है और घर से स्त्री का भी विनाश या निर्वास होता है। अनामिका के दीर्घ होने से व्यक्ति विद्वान् होता है तथा कनिष्ठा के दीर्घ होने से नाटा होता है। हाथ की अँगुलियों की परीक्षा का विषय इस ग्रन्थ में अत्यन्त विस्तारपूर्वक दिया है। सामुद्रिक शास्त्र का ग्रन्थ न होने पर भी सामुद्रिक शास्त्र की अनेक महत्त्वपूर्ण बातें आयी हैं।

कुवलयमाला में अँगुली और अँगूठे के विचार के अनन्तर हाथ की हथेली का विचार किया है। हथेली के स्पर्श, रूप, गन्ध एवं लम्बाई-चौड़ाई का विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। वृषण और लिंग के ह्रस्व, दीर्घ एवं विभिन्न आकृतियों का पर्याप्त विचार किया है। वक्षस्थल, जिह्वा, दाँत, ओष्ठ, कान, नाक आदि के रूप-रंग, आकृति, स्पर्श आदि के द्वारा शुभाशुभ फल वर्णित है। अंगज्ञान के सम्बन्ध में लेखक ने इस कथाग्रन्थ में पर्याप्त सामग्री संकलित कर दी है। दीर्घायु का विचार करते हुए लिखा गया है—

कण्ठं पिट्ठी लिंगं जंघे य हवंति हस्सया एए।
पिहुला हत्थ पाया दीहाऊ सुत्थिओ होइ॥

चक्खु-सिणेहे सुहओ दंतसिणेहे य भोयणं मिट्ठं।
तय-णेहेण उ सोक्खं णह-णेहे होइ परम-धणं ॥

—कुवलयमाला, पृ. १३१, अनु. २१६

कण्ठ, पीठ, लिंग और जांघ का ह्रस्व—लघु होना शुभ है। हाथ और पैर का दीर्घ होना भी शुभ फल का सूचक है। आँखों के चिकने होने से व्यक्ति सुखी, दाँतों के चिकने होने से मिष्ठान्नप्रिय, त्वचा के चिकना होने से सुख एवं नाखूनों के चिकने होने से अत्यधिक धन की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार नेत्र, नाखून, दाँत, जांघ, पैर, हाथ आदि के रूप-रंग, स्पर्श, सन्तुलित प्रमाण—वजन एवं आकार-प्रकार के द्वारा फलादेश का निरूपण किया गया है।

प्रमुख ज्योतिर्विद् और उनके ग्रन्थों का परिचय

वराहमिहिर—यह इस युग के प्रथम धुरन्धर ज्योतिर्विद् हुए, इन्होंने इस विज्ञान को क्रमबद्ध किया तथा अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा अनेक नवीन विशेषताओं का समावेश किया। इनका जन्म ईसवी सन् ५०५ में हुआ था। बृहज्जातक में इन्होंने अपने सम्बन्ध में कहा है—

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः काम्पिल्लके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ॥

अर्थात्—काम्पिल्ल (कालपी) नगर में सूर्य से वर प्राप्त अपने पिता आदित्यदास से ज्योतिषशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की, अनन्तर उज्जैनी में जाकर रहने लगे और वहीं पर बृहज्जातक की रचना की। इनकी गणना विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में की गयी है। यह त्रिस्कन्ध ज्योतिषशास्त्र के रहस्यवेत्ता, नैसर्गिक कविता-लता के प्रेमाश्रय कहे गये हैं। इन्होंने ज्योतिषशास्त्र को जो कुछ दिया है, वह युग-युगों तक इनकी कीर्ति-कौमुदी को भासित करता रहेगा।

इन्होंने अपने पूर्वकालीन प्रचलित सिद्धान्तों का पंचसिद्धान्तिका में संग्रह किया है। इसके अतिरिक्त बृहत्संहिता, बृहज्जातक, लघुजातक, विवाह-पटल, योगयात्रा और समाससंहिता नामक ग्रन्थों की रचना की है।

वराहमिहिर के जातक ग्रन्थों का विषय सर्वसामान्य, गम्भीर और मत-मतान्तरों के विचारों से परिपूर्ण है। बृहज्जातक में मेषादि राशियों की यवन संज्ञा, अनेक पारिभाषिक शब्द एवं यवनाचार्यों का भी उल्लेख किया है। मय, शक्ति, जीवशर्मा, मणित्थ, विष्णुगुप्त, देवस्वामी, सिद्धसेन और सत्याचार्य आदि के नाम आये हैं। इनकी संहिता भी अद्वितीय है, ज्योतिषशास्त्र में यों अनेक संहिताएँ हैं, पर इनकी संहिता-जैसी एक भी पुस्तक नहीं। डॉक्टर कर्न ने बृहत्संहिता की बड़ी प्रशंसा की है। वास्तविक बात तो यह है कि फलित ज्योतिष का इनके समान कोई अद्वितीय ज्ञाता नहीं हुआ है। यह निष्पक्ष ज्योतिषी और भारतीय ज्योतिष साहित्य के निर्माता माने जाते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि वराहमिहिराचार्य ने भारत के ज्योतिष को केवल ग्रह-नक्षत्र ज्ञान तक ही मर्यादित न रखा, वरन् मानव जीवन के साथ उसकी विभिन्न पहलुओं द्वारा व्यापकता बतलायी तथा जीवन के सभी आलोच्य विषयों की व्याख्याएँ कीं। सचमुच वराहमिहिराचार्य ने एक खासा साहित्य इसपर तैयार किया है।

कल्याणवर्मा—इनका समय ईसवी सन् ५७८ माना जाता है। इन्होंने यवनों के होराशास्त्र का सार संकलित कर सारावली नामक जातक ग्रन्थ की रचना की है। यह सारावली वराहमिहिर के बृहज्जातक से भी बड़ी है, जातकशास्त्र की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भट्टोत्पल ने बृहज्जातक की टीका में सारावली के कई श्लोक उद्धृत किये हैं। कल्याणवर्मा ने स्वयं अपने सम्बन्ध में लिखा है—

देवग्रामपयःप्रपोषणबलाद् ब्रह्माण्डसत्पञ्जरं
कीर्तिः सिंहविलासिनीव सहसा यस्येह भित्वा गता।
होरां व्याघ्रभटेश्वरो रचयति स्पष्टां तु सारावलीं
श्रीमान् शास्त्रविचारनिर्मलमनाः कल्याणवर्मा कृती॥

इससे स्पष्ट है कि वराहमिहिर के होराशास्त्र को संक्षिप्त देख यवनहोराशास्त्रों का सार लेकर इन्होंने सारावली की रचना की है। इस ग्रन्थ की श्लोक-संख्या ढाई हज़ार से अधिक बतायी जाती है।

ब्रह्मगुप्त—यह वेधविद्या में निपुण, प्रतिष्ठित और असाधारण विद्वान् थे। इनका जन्म पंजाब के अन्तर्गत 'भिलनालका' नामक स्थान में ईसवी सन् ५९८ में हुआ था। ३० वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त ६७ वर्ष की अवस्था में 'खण्डखाद्यक' नामक एक करण ग्रन्थ भी इन्होंने बनाया था। कहते हैं कि इस ग्रन्थ का यह नाम अर्थात् ईख के रस से बना हुआ मधुर, रखने का कारण यह बताया जाता है कि उस समय में इस देश में बौद्ध और सनातनियों में धार्मिक झगड़ा बराबर चला करता था, इससे इन दोनों में शास्त्रार्थ भी खूब होता था। सनातनियों के खण्डन के लिए बौद्ध और जैन ग्रन्थ लिखा करते थे और इन दोनों के खण्डन के लिए सनातनी। ज्योतिष में भी यह खण्डन-मण्डन की प्रथा प्रचलित थी। किसी बौद्ध पण्डित ने 'लवणमुष्टि' अर्थात् एक मुष्टि नमक नामक ग्रन्थ लिखा था; जिसका तात्पर्य यही था कि सनातनियों पर छिड़कने के लिए एक मुट्ठी-भर नमक। इसी के उत्तर में ब्रह्मगुप्त ने 'खण्ड-खाद्यक' रचा अर्थात् मुट्ठी-भर नमक के बदले इन्होंने लोगों को मधुरता दी।

ब्रह्मगुप्त ज्योतिष के प्रौढ़ विद्वान् थे। इन्होंने बीजगणित के कई नवीन नियमों का आविष्कार किया, इसी से यह गणित के प्रवर्तक कहे गये हैं। अरबवालों ने बीजगणित ब्रह्मगुप्त से ही लिया है। इनके गणित ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में भी हुआ सुना जाता है। ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त का 'असिन्द हिन्द' और 'खण्डखाद्यक' का 'अलर्कन्द' नाम अरबवालों ने रखा है।

इन्होंने पृथ्वी को स्थिर माना है, इसलिए आर्यभट्ट के पृथ्वी-चलन सिद्धान्त की जी-भर निन्दा की है। ब्रह्मगुप्त ने अपने पूर्व के ज्योतिषियों की ग़लती का समाधान विद्वत्ता के साथ किया है। वैसे तो यह आर्यभट्ट के निन्दक थे, पर अपना करण ग्रन्थ खण्डखाद्यक उसी के अनुकरण पर लिखा है। इस ग्रन्थ के आरम्भ के आठ अध्याय तो केवल आर्यभट्ट के अनुकरण मात्र हैं, उत्तर भाग के तीन अध्यायों में आर्यभट्ट की आलोचना है। अलबेरूनी ने ब्रह्मगुप्त के ज्योतिष ज्ञान की बहुत प्रशंसा की है।

मुंजाल—इनका बनाया हुआ 'लघुमानस' नामक करण ग्रन्थ है, जिसमें ५८४ शकाब्द का अहर्गण सिद्ध किया गया है। इस ग्रन्थ में मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, तिथ्यधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार और शृंगोन्नत्यधिकार ये आठ प्रकरण हैं। गणित ज्योतिष की दृष्टि से ग्रन्थ अच्छा मालूम पड़ता है। विषय-प्रतिपादन की शैली सरल और हृदयग्राह्य है। पाठक पढ़ते-पढ़ते गणित-जैसे शुष्क विषय को भी रुचि और धैर्य के साथ अन्त तक पढ़ता जाता है और अन्त तक जी नहीं ऊबता है। ग्रन्थकार की यह शैली प्रशंसा योग्य है।

महावीराचार्य—ब्रह्मगुप्त के पश्चात् जैन सम्प्रदाय में महावीराचार्य नाम के एक धुरन्धर गणितज्ञ हुए। यह राष्ट्रकूट वंश के अमोघवर्ष नृपतुंग के समय में हुए थे, इसलिए इनका समय ईसवी सन् ८५० माना जाता है। इन्होंने ज्योतिषपटल और गणितसारसंग्रह नाम के ज्योतिष ग्रन्थों की रचना की है। ये दोनों ही ग्रन्थ गणित ज्योतिष के हैं, इन ग्रन्थों से इनकी विद्वत्ता का ज्ञान सहज में ही लगाया जा सकता है। गणितसार के प्रारम्भ में गणित विषय की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

कामतन्त्रेऽर्थशास्त्रे च गान्धर्वे नाटकेऽपि वा।
सूपशास्त्रे तथा वद्ये वास्तुविद्यादिवस्तुषु॥
छन्दोऽलङ्कारकाव्येषु तर्कव्याकरणादिषु।
कलागुणेषु सर्वेषु प्रस्तुतं गणितं परम्॥
सूर्यादिग्रहचारेषु ग्रहणे ग्रहसंयुतौ।
त्रिप्रश्ने चन्द्रवृत्तौ च सर्वत्राङ्गीकृतं हि तत्॥

इस ग्रन्थ में संज्ञाधिकार, परिकर्मव्यवहार, कलासवर्ण व्यवहार, प्रकीर्णव्यवहार, त्रैराशिकव्यवहार, मिश्रक व्यवहार; क्षेत्र गणितव्यवहार, खातव्यवहार एवं छायाव्यवहार नाम के प्रकरण हैं। मिश्रक व्यवहार में समकुट्टीकरण, विषमकुट्टीकरण और मिश्रकुट्टीकरण आदि अनेक प्रकार के गणित हैं। पाटीगणित और रेखागणित की दृष्टि से इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। इनके क्षेत्रव्यवहार प्रकरण में आयत को वर्ग और वर्ग को आयत के रूप में बदलने की प्रक्रिया बतायी है। एक स्थान पर वृत्तों को वर्ग और वर्गों को वृत्तों में परिणत किया गया है। समत्रिभुज, विषमत्रिभुज, समकोण चतुर्भुज, विषमकोण चतुर्भुज, वृत्तक्षेत्र, सूचीव्यास, पंचभुजक्षेत्र, एवं बहुभुजक्षेत्रों का क्षेत्रफल,